श्री भागवत-दर्शन ५३

भागवती कथा

(तिरपनवाँ खण्ड)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

द्वितीय संस्करण १००० प्रति] श्रावण कृष्ण २०२९ अगस्त १९७२ [मूल्य—१.६५

संशोधित मूल्य २-०० रुपया

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

भक्तों के भगवान्

[भूमिका]

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥ *

(श्रीभा० ९ स्क० ४ अ० ६४ श्लो०)

छप्पय

जो जग को तजि नेह नेह हरि माहिँ लगावें ।
उनकूँ मोहन मदन प्रेम करिकें अपनावें ॥
सब कुछ वे बनि जायँ सगे सम्बन्धी भ्राता ।
सेवक, स्वामी, सखा, सुहृद, सुत, पति, पितु माता ।
सरनागत के सकल दुख, सब विधितैं श्रीहरि हरें ।
लोक और परलोकके, सब कारज वेई करें ॥

जीव को कोई आश्रय चाहिये । गाँव में राज्य की ओर से एक प्रहरी (चौकीदार) रहता है । वेतन तो उसे महीने में दो चार रुपये ही मिलते हैं, किन्तु उस पर एक राज्यपट्टिका (चपरास) रहती है । उसके बल पर वह अकड़कर चलता है । आधीरात्रि

---

* श्री भगवान महर्षि दुर्वासा से कह रहे हैं—"ब्रह्मन् ! जो मेरे साधु स्वभाव वाले भक्त हैं, जिनका मैं ही एक मात्र आश्रय हूँ, उन अपने भक्तों के अतिरिक्त अनपायिनी लक्ष्मी की यहाँ तक कि अपने आत्मा की भी इच्छा नहीं करता हूँ ।"

में निर्भय होकर चला जाता है। सब लोग उससे भय खाते हैं। उसमे जो इतना साहस है, प्रभाव है, वह निज का अपना नहीं, वह जो भी कुछ करता है, राज्य के बल पर करता है। उसे विश्वास है मेरे सिर पर बड़ा शासक है, वह मेरी सब प्रकार रक्षा करेगा।

हमको कोई धनी आकर यह विश्वास दिला दे कि "आप किसी बात की चिन्ता न करें, आपको जो आवश्यकता होगी उसका प्रबन्ध मैं करूँगा। तो हम कितने निश्चिन्त हो जाते हैं, हमें कितना बल प्राप्त हो जाता है। पीछे चाहे वह अपने वचन को पूरा न करे, किन्तु उस समय तो हम चिन्ताओं से मुक्त हो ही जाते हैं। जब अल्पप्राण अल्पसामर्थ्य वाले इन संसारी शासक तथा धनिकों के आश्वासन से हम बली, निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाते हैं, तो जो सबका ईश है, चराचर का स्वामी है, वह डंके की चोट पर छाती ठोककर कहता है कि "तुम सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सभी दुःखों से मुक्त कर दूँगा, तुम तनिक भी सोच मत करो।" यदि हमें भगवान् के इन ओजपूर्ण वचनों पर विश्वास नहीं, तो अभी हम भक्ति मार्ग से कोसों दूर हैं। भगवान् कहते हैं—"मुझे सब भूतों का तुम जब सुहृद् मान लोगे तब शांति को प्राप्त कर लोगे।"

भक्ति मार्ग में अपना न कुछ कर्तव्य रह जाता है, न अपने लिये कुछ पुरुषार्थ। यदि कोई कर्तव्य रह जाता है तो यह है अपने इष्ट के ही लिये कर्म करना। यदि पुरुषार्थ शेष रहता है तो यही कि अपने योगक्षेम की चिन्ता को सर्वात्मभाव से उनके ही ऊपर छोड़ देना। भगवान् को अपना मान लेना। उनसे अपनी इच्छानुसार कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लेना। भगवान् तो ऐसे भोले हैं कि उन्हें जो कोई पिता बनाता है, पिता

बन जाते हैं, माता बनाता है भ्राता बन जाते हैं, यहाँ तक कि वे भाई, बन्धु, सखा, सुहृद, सुत तथा पत्नी तक बन जाते हैं। भक्तमाल मे इस सम्बन्ध की बहुत सी कथायें हैं। उन्हीं कथाओं मे से एक बुढ़िया की कथा है। वह गोपालजी को अपना पुत्र मानती थी, पुत्र की भाँति उनकी देख रेख रखती। प्रातः तड़के उठकर उनके मुँह हाथ धुलाती। मक्खन निकालकर उन्हें खिलाती। गोपालजी प्रत्यक्ष उसके आँगन में खेलते। उससे लड़ाई झगड़ा करते। साग भाजी न बनाती तो बुढ़िया से रूठ जाते। बुढ़िया उनकी इन बातों से खीज उठती। उन्हें खरी खोटी सुनती। कहती-मैं बूढ़ी हो गयी, तू कुछ कमाई तो करता नहीं। मुझे सदा दुख देता रहता है! मैं तेरे लिये साग भाजी कहाँ से लाऊँ, जो बना है वही खाले।" इसी प्रकार माँ बेटा मे नित्य ही प्रेम कलह होती रहती।

एक दिन बुढ़िया ने सुना। एक भेड़िया आया है बच्चों को उठा ले जाता है, तब तो उसे बड़ी चिंता हुई। "मेरा गोपाल छोटा है, वह चञ्चल भी बड़ा है, रात्रि मे कहीं भेड़िया उसे उठा न ले जाय।" इस विचार के आते ही उसका हृदय द्रवीभूत हो उठा। उसने रात्रि में सोना ही छोड़ दिया डंडा लेकर रात्रि भर द्वार पर बैठी रहती इस प्रकार उसे कई दिन हो गये। भगवान् भला अपनी माँ का इतना दुख कैसे देख सकते हैं। वे एक ग्रामीण के वेष में आये और बोले—"माँ! वह बालकों को उठा ले जाने वाला भेड़िया तो मार दिया गया। तू विश्वास कर, अब वह नहीं है।" तब बुढ़िया ने सोना आरम्भ किया। यह कथा पुरानी है, किन्तु यह भाव तो नित्य है। अब भी ऐसे भक्त हैं और आगे भी होंगे। यह अभी थोड़े ही दिन की बात है।

बरेली में एक बुढ़िया थी। उसके पास एक गोपालजी थे। उनका भी उनमें पुत्रभाव था। वह उसके आँगन में खेलते,

उससे बातें करते। हमारे यहाँ प्रयाग में एक बड़ी नामी वैद्या महिला हुई हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु हुई है उनका नाम था यशोदादेवी। उनका उस बुढ़िया से कोई सम्बन्ध था। बुढ़िया की इच्छा माघ मकर में त्रिवेणी स्नान की हुई उसने अपने गोपालजी से कहा—"देख, तू यहाँ रहना मैं प्रयाग स्नान कर आऊँ, वहाँ भीड़ भाड़ में तू कहीं पिच पिचा जायगा।"

गोपालजी ने कहा—"नहीं नहीं, मैं भी चलूँगा। मैं यहाँ अकेला नहीं रहूँगा।"

बुढ़िया ने कहा—"मैं तेरी इसी हठ से तो दुखी रहती हूँ। तू मेरी बात मानता ही नहीं।

गोपालजी मचल उठे। उन्होंने कहा—मैं तो चलूँगा ही। मैं भी प्रयाग स्नान करूँगा।

बुढ़िया ने कहा—"तू तो मेरे पीछे पड़ा है। मैं तुझे नहीं ले जाती।"

यह कहकर वह पूजा किसी दूसरे को सौंप कर घोड़ा गाड़ी में बैठकर चल दी। उसने देखा घोड़ागाड़ी के साथ गोपालजी दौड़े आ रहे हैं। वह गाड़ा में से ही चिल्लायी—"अरे, तू कहाँ चल रहा है। पैदल क्यों दौड़ता है, इसने तो बड़ा दुन्द मचा रखा है।" यह कहती कहती वह अधीर हो गयी। उसने गाड़ी खड़ी करायी। गोपालजी भाग गये। फिर गाड़ी चली तो फिर पीछे-पीछे उसे गोपालजी दिखायी दिये। फिर वह चिल्लाने लगी। और किसी को तो गोपालजी दीखते नहीं थे। लोगों ने समझा—बुढ़िया वैसे ही बक रही है, फिर किसी ने गाड़ी खड़ी नहीं की। टेसन पर पहुँचकर सब रेल गाड़ी में बैठे। गोपालजी भी द्वार पर खड़े हुए। जैसे तैसे उसने उन्हें बुलाया। प्रयाग पहुँच कर सब लोग कटरा कर्नलगञ्ज में यशोदादेवी के बँगले ठहरे। प्रातःकाल त्रिवेणी स्नान करने चले। बुढ़िया ने इक्के में

बैठने को अपने गोपाल से बहुत कहा, किन्तु वे नहीं बैठे। इक्के के साथ ही-साथ दौड़ते हुए त्रिवेणी तक गये। बुढ़िया बड़बड़ाती रही, गोपालजी को खरी खोटी सुनाती रही। लोगों ने समझा बुढ़िया का माथा फिर गया है।

त्रिवेणी जी पर पहुँचकर बुढ़िया ने गोपालजी को पकड़ा। उन्हें स्नान कराके तखत पर खड़ा किया और कहा—"भीतर जल में मत जाना यहीं खड़े रहना।" यह कहकर बुढ़िया नहाने लगी। गोपालजी ने कहा—"मुझे तो बड़ी भूख लगी है।" बुढ़िया अत्यन्त खीज गयी और बोली—"तू मुझे बहुत दुःख देता है। अब मैं यहाँ तेरे लिये खाने को कहाँ से लाऊँ।"

गोपालजी ने कहा—"यहाँ जलेबी मिलती हैं, मुझे जलेबी मँगा दो।"

बुढ़िया ने अपने साथी से कहा—"भैया! पाव भर जलेबी ला दो।"

उन दिनों डेढ़ दो आने पाव जलेबी मिलती थीं वह आदमी गरम जलेबी ले आया। अब तो गोपालजी फिर मचल गये और बोले—"मैं इन जलेबियों को नहीं खाऊँगा। यह तो कोकोजम की हैं।" बुढ़िया कोकोजम समझती ही नहीं थी। उसने अपने साथी से कहा—"भैया, यह मेरा पीछा न छोड़ेगा। कुछ-न कुछ ऐब निकालता ही रहेगा। कोकोजम क्या होता है, उसकी जलेबी यह नहीं खाता, इसे घी की जलेबी ला दो"

तब वह आदमी खोजकर एक विश्वसनीय दुकान से पाव भर या आध सेर जलेबी ले आया। सब ने समझा बुढ़िया की इच्छा स्वय ही जलेबी खाने की है, इसीलिये पाखण्ड रच रही है।" किसी ने कह भी दिया। बुढ़िया ने इधर ध्यान ही नहीं दिया। उसे तो अपने गोपाल की चिन्ता थी। सब लोग बुढ़िया को घेर कर बैठ गये। पडा के तखत पर उसने कहा—"ले खा ले, अब

तो ये घी की हैं।" सबने आश्चर्य के साथ देखा कि दोना तो है किन्तु उसमें एक भी जलेबी नहीं। बुढ़िया गोपालजी को खिला कर चल दी। पीछे लोगों ने उससे पूछा जिससे पहिले जलेबी लाये थे। उसने बताया सचमुच मैंने कोकोजम (जमे तेल) से ही जलेबी बनायी थी।

यह बात कोई बनावटी नहीं पुरानी नहीं। अभी थोड़े दिनों की बात है। इसी घटना को देखने वाले लोग अभी स्यात् जीवित भी हैं। ऐसी ही एक घटना अभी हाल की और है।

झाँसी जनपद में एक स्थान है ललितपुर। वहाँ पर एक साधु रहते थे, उनका नाम था लाला बिहरिया। नाम तो उनका रामचन्द्रदास था, इस नाम के पड़ने का एक इतिहास है। उनका एक अत्यन्त योग्य युवक पुत्र था, उसकी असमय में ही मृत्यु हो गयी। इससे उन्हें दुःख होना स्वाभाविक ही था। उसी दुःख में उनके मन में यह बात आई कि, क्यों नहीं मैं भगवान् को ही अपना पुत्र मान लूँ। ऐसा मन में आते ही उन्होंने कुञ्जविहारी जी को अपना पुत्र मान लिया। पुत्र भाव से ही वे उन्हें मानने लगे। प्यार में वे विहारीजी को बिहरियालाला कहते। इसीलिये सब लोग भी उन्हें बिहरियालाला ही कहने लगे। वहाँ आस पास यह बात फैली थी कि विहारीजी इनसे प्रत्यक्ष बातें करते हैं। कोई वैष्णव साधु इसकी परीक्षा करने कई महीनों उनका कुटिया पर रहे और उनकी सब चर्या देखी। उन्हीं के द्वारा ज्ञात हुआ कि भगवान् प्रत्यक्ष होकर उनको पुत्र का सुख देते थे। सोते-सोते रात्रि में कहते—"अरे, लाला देख तुझे दया भी नहीं आती, मैं बुड्ढा हो गया। तू अपने पैर मेरे पेट में घुसेड़ देता है। तनिक पैर को हटा ले।" बाहर सोये हुए साधु ने नूपुर की छम्म-छम्म की ध्वनि सुनी और ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई चरण हट कर दूसरी ओर हुआ है।

उनको जल भी पीना होता, तो कहते—"लाला, मैं जल पीऊँगा।" किसी बात पर मन चले तो उसे वे लाला से कहते। एक दिन कह रहे थे—"इस बुढ़ापे में मन भी कैसा हो जाता है, आज मन करता है, मिस्सी रोटी हरी मिर्च के साथ खाऊँ। वैसे लाला मेरा सब प्रबन्ध करता है इसका भी प्रबन्ध करेगा, किन्तु यह बड़ा दुष्ट है।" इतने में ही एक आदमी आया और उसने कहा—"बिहरियालाला! आज हमारे यहाँ आप प्रसाद पावें, किन्तु मिस्सी रोटी और हरी मिर्च की चटनी यही खिलावेंगे।" उन्होंने कहा—"आज मैंने लाला से यही तो कहा था। वही सब मेरी इच्छा पूरी करता है।"

श्रीमद्भागवत में भगवान् ने स्वयं कहा है—"येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च" अर्थात् जो मेरे अनन्य भक्त हैं उनका गुरु, आत्मा तथा पुत्र सब कुछ मैं ही हूँ। महात्मा बिहरियालाला ने यही सोचकर बिहारीजी को ही अपना पुत्र बना लिया था। मीराजी के भी जब लौकिक पति मर गये तो उन्होंने कहा था—"जो जन्म ले और न जाने कब मर जाय ऐसे विनाशशील को पति क्या बनाना। जो कभी मरे नहीं, अविनाशी है, मैंने तो उसी को पति बना लिया। महात्मा बिहरियालाला को भी जब पुत्र शोक अत्यधिक हुआ तो उन्होंने भी यही कहा—

हमारे ननैया कुञ्जविहारीलाल।
कबहुँ न मरे कबहुँ नहिं जीवे, ऐसे वाको हाल।
ताकौं बाप कहौ क्यों मर है, जाको ऐसो ख्याल॥
आतम पुत्र सुन्यौ वेदनि में, चलते ऐसी चाल।
सुख दीन्हों दे है अरु दै रह्यो दीनन को प्रतिपाल॥

जिसने समस्त सुख के स्रोत को ही पुत्र बना लिया, भला

उसे सुख की क्या कमी। तैली को पति बना लेने पर क्या तैल की कमी रह सकती है? विहरियालाला ही बेटा हो गये तो फिर दुःख की तो वहाँ गन्ध नहीं आ सकती।

विहरियालाला प्रतीत होता है मथुरा के थे। किसी कारण घूमते फिरते ललितपुर में आ गये होंगे। एक पद में उन्होंने कहा भी है—

भये हम मथुरा रजधानी।
जाति सारस्वत की मानी॥
इष्ट दीना राधा रानी।
गुरु श्री गणेशजी ज्ञानी॥

प्रतीत होता है, इनकी इष्ट देवी तो श्री राधा रानी थीं। कुञ्जविहरिया तो इनका पुत्र था, लाला था। उपास्य देवी तो इनकी वृन्दावनधीश्वरी वृषभानुनन्दिनी कीर्तिकुमारी राधारानी थीं। उनके सम्बन्ध मे भी इन्होंने पद बनाये हैं। एक पद में अपनी इष्ट देवी की महिमा बताते हुए कहते हैं—

शारदादि वन्दिनी निकन्दिनी क्लेश वृन्द
रूप रति माहिँ को सुनन्दिनी निहारी है।
'रामचन्द्र' कीरति की नन्दिनी अनन्दमयी
कूल में कलिन्द जाके सङ्ग लै विहारी है॥
विहरैं सुकुमार रे गँवार किन तू भजे,
छाँडि मद मोह नेह तजिकै कुनारी है।
पाप पुञ्जनाशिनी प्रकाशिनी प्रमोदकञ्ज
वृन्दावनवासिनी उपासिनी हमारी है॥

जो रसिक हैं, रस की जिनकी उपासना है, वे लोकवाह्य तो होते हैं, साथ ही बड़े सरस और गुणग्राही भी होते हैं।

विहरियालाला भी ऐसे ही थे। अपनी कुटी में उन्होंने एक बड़ी सी गद्दी लगा रक्खी थी, उस पर बड़ा सा तकिया रख रक्खा था। ज्ञानमार्ग में ध्यान और भक्तिमार्ग में गान ये मुख्य साधन माने जाते हैं। हमारे विहरियालाला भी गाना सुनने के बड़े अनुरागी थे। जो भी गाने वाले नाचने वाले आते, तो कहते—"हाँ, हमारे लाला को गाना सुनाओ उसे नाच दिखाओ। हमारा लाला बड़ा नचैया गवैया है। जो भी आकर नाचता गाता, उसे ही पाँच रुपये पारितोषिक देते। गद्दी के नीचे से रुपये निकाल कर दे देते। वे रुपये कहाँ से आते थे कुछ पता नहीं। नाचने गाने वाला कोई क्यों न हो, बहुत-सी वेश्यायें आकर नाच जातीं, गा जातीं, उनके लाला को सङ्गीत सुना जातीं। उनको भी वे भेंट देते। ५) उनके बँधे थे।

सुनते हैं, एक बार कोई अद्वैत वेदान्ती आये। उन्होने उनकी उपासना को बिना ही समझे अद्वैत का उपदेश देना आरम्भ कर दिया। बहुत देर तक वह वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करता रहा, ये उसे सुनते रहे। जब उसने बहुत आग्रह किया और कुछ उत्तर देने को विवश किया, तो इन्होंने स्वाभाविक रूप से अपने मुख से कहा—

न वेद हे न भेद प्यारे
पड़ी हैं जाहिर तुम्हारे जरिया।
कहा करूँ तुम मिले न पहिले,
डसा न था मोहि विहारी करिया॥
गरुड मन्त्र वाजिंत्र जरी हू न
लगी यारो! भरमी सी भरिया।
करूँ कहा तुम मिले न पहिले
डसा न था मोहि विहारी करिया॥

और भी—

गणेशजी महाराज गुरूजी दीन जानकर दया करी है ।
करी है तारा यही विचारा भवभुजग को अजब जरी है ॥
जरी है निगरी अविद्या जानो क्यों अभिमानी करता खरी है ।
खरी है दिल को लगो है मेरे विहारी की जै नित करी है ॥

मुझे तो भैया, बिहारी रूप करिया सर्प ने डस लिया है, सर्प के डसे की तो जड़ी बूटी जन्त्र तन्त्र मन्त्र भी हो जाते हैं, किन्तु यह विहरिया करिया ऐसा सर्प है कि इसकी कोई ओषधि ही नहीं। यदि इस नाग के डसने के पहिले तुम मिल जाते तो सम्भव है मैं तुम्हारे इस अद्वैत इस ज्ञान को स्वीकार भी कर लेता ।

ये दोनों पद उनके मुख के कहे हुए हैं। स्यात लिखने वाले ने पूरे लिखे न हों इसीलिये छन्द शुद्ध नहीं है। किन्तु उनकी जो और कवितायें हैं वे बड़ी शुद्ध भावपूर्ण और उच्चकोटि की हैं। *जब उन्होंने बाँकेविहारीजी के दर्शन किये तब उन्होंने एक कवित्त* कहा है। वह इस प्रकार है—

लोचन विशाल भाल तिलक विराजे लाल
चन्द्रिका चटक वर पगिया अदाँ की तो ।
कुण्डल सुकान मुसुकान मुख पान रच्यौ
"रामचन्द्र" राका शशि वदन निशाँकी तो ॥
ताकी छवि ताकी मूरख अचेत चेत
अजहूँ अजान सोच जेहे वैसे वाकी तो ।
यों ही धूरि फाँकी राखी यहाँ की न वहाँकी हाय
बाँकुरे विहारीजू की झाँकी जो न झाँकी तो ॥

प्रतीत होता है यह पद उनका विहरिया को पुत्र मानने के पहिले का होगा। एक पद का कुछ अंश और भी सुनिये—

जै जै श्री कुञ्ज विहारी की।
हरदम क्यों नहिँ याद करे करुनानिधि कुञ्जविहारीकी ॥
बसे मध्य में धन के खातिर देश देश भ्रमते डोले।
पंडित मुल्ला वेष बनाकर दर दर कूकर सम डोले ॥
कहा नाम चिंतामनि हरि का कौरा के बदले तोले।
इतने पर गैरत नहिँ तुझको चलता चाल अनारी की ॥
जै बोलो कुञ्ज विहारी की ॥

जब घर छोड दिया विहारिया को पुत्र मान लिया, तब उन्होंने कहा था—

आज हम सबसे भये बेकार।
सुना तुम दाना दुश्मन यार ॥

उनके बनाये पद बहुत हैं, वे अभी तक कहीं छिपे नहीं हैं। जब श्री व्रजकिशोरजी कथा बाँचने झाँसी गये तब वे कुछ लिख लाये थे, उन्हीं में से कुछ पद मैंने यहाँ दिये हैं। उनके पदों में बडा लालित्य है, कविता के सभी गुण विद्यमान हैं। श्रीमद्भागवत् में कहा है—"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्य किंचना सर्वैर्गुणास्तत्र समासतेऽसुराः" जिसके हृदय मे भगवान् की भक्ति है, उसके हृदय में समस्त गुण अपने आप ही आकर विराजमान हो जाते हैं। साहित्य क्षेत्र में महात्मा विहरियालाला को कोई जानता नहीं। उन्हें ससारी लोगों की जानकारी की अपेक्षा नहीं। यह तो हम जैसे कीर्तिलोलुपों का कार्य है कि—

घट भित्वा पटं कृत्वा गर्दभ रोहणम्।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत ॥

लोगों के सम्मुख जोर से घडा फोडकर, वस्त्रों को फाड़कर गदहे पर चढ़ कर जैसे भी हो वैसे प्रसिद्धि प्राप्त कर लेना। जिसका विहारी से परिचय हो गया उसे संसारी लोगों के परिचय की आवश्यकता ही नहीं।

महात्मा विहरियालाला के प्रेम की अनेकों बातें हैं जो स्थल सङ्कोच के कारण लिखी नहीं जा सकतीं। उन्हें सदा एक प्रकार का आवेश-सा रहता था। शौच को बैठे हैं-लड़कों ने चिल्लाया- "विहरियालाला की जय" तो तुरन्त वे चिल्ला उठते— "विहरियालाला की जय"। पीछे लड़के कहते—"आप शौच होते-होते बोल उठे।" वे कहते—"हम कब बोले।"

मरते समय वे कह गये—"लाला! मेरी क्रिया कर्म तू ही करना। मेरी हड्डी को गङ्गाजी मे पहुँचाना।"

थाड़े दिन हुई उनकी मृत्यु हुई। सब लोग बड़ी धूम धाम से उन्हे स्मशान मे ले गये। उसी समय एक सुन्दर लड़का पीले वस्त्र पहिने रोता हुआ आया कि "इनकी कपाल क्रिया तो मैं करूँगा।" कोई भी आपत्ति न कर सका। बालक रोता ही रहा, रोता ही रहा। उसके अश्रु बन्द ही नहीं होते थे। जब तक चिता जलती रही वहीं रहा। फिर कई दिन पश्चात् एक ताम्र-कलश लाया, उनकी हड्डियों को चुनकर गङ्गाजी लिये चला गया। सभी लोगों ने उन्हे देखा।

फरूखाबाद मे एक भक्त थे। बड़े सरल बड़े सीधे वड़े रसिक। हम सब लोग उन्हे बड़े बाबूजी कहते थे।

एक बार एक रामलीला मंडली फरूखाबाद में आयी। उसमें जो श्रीराम बनते उनमें उन्हे साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी का भाव हो गया। और उनमें उन्होंने अनेक अलौकिक शक्तियाँ भी देखी थीं। उनका बड़ा भारी जीवन-चरित्र है। स्वयं भी उन्होंने अपना जीवन चरित्र लिखा था, उसे प्रकाशित करने की भी बात थी। मुझसे उन्होंने कहा भी था, किंतु तब वह प्रकाशित न हो सका। बाबूजी बड़े अच्छे रसिक कवि थे। उनकी कई छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित भी हुई थीं। एक थी "जनकपुर के सखा।" वे बड़े ही शांत गम्भीर, नम्र तथा तेजस्वी थे। बहुत ही

कम बोलते थे, जो भी बोलते थे ऐसा लगता था मानों अमृत उड़ेल रहे हैं। सुना अभी वर्ष दो वर्ष पहिले परलोकवासी हुए हैं। उनकी आर्थिक स्थिति जीवन भर अत्यन्त ही साधारण रही। अन्त समय फर्रुखाबाद छोड़ जयपुर चले गये थे। उनका भगवान् पर अत्यन्त ही विश्वास था। उनके कोई पुत्र नहीं था। पुत्री ही थी। जैसी कि सभी की इच्छा होती है, उनकी भी इच्छा थी, एक पुत्र हो जाय। उनको आशा थी, अबके पुत्र होगा, किन्तु अबके भी पुत्री ही हुई। धायने आकर कहा—"पुत्री हुई है।"

"बाबूजी ने कहा—जैसी भगवान् की इच्छा। वे ध्यान करने लगे। कुछ काल ही पश्चात् धाय आई कि वह तो पुत्र हो गया। यह एक अद्‌भुत चमत्कार था। भगवान् भक्त की इच्छा कैसे पूर्ण करते हैं। इसे बिना भक्त बने तर्क से कोई समझ नहीं सकता। यह अनुभव की वस्तु है। बाबूजी का वह पुत्र तो अभी तक है।"

ऐसी ही एक घटना और हुई। उनके घर में उनके पिता की या किसी और सम्बन्धी की मृत्यु हुई। बाबूजी नागर ब्राह्मण थे। उनके यहाँ कुल परम्परागत कुछ ऐसी प्रथा है, कि वे अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य किसी से मृतक को नहीं उठवाते। जाति वाले ही उसे श्मशान तक ले जाते हैं। वहाँ उनका कोई जाति बन्धु नहीं था। घर मे अकेले ही थे। वे बड़ी चिन्ता मे थे अब क्या करें। सहसा पीले-पीले कपड़े पहिने चार पाँच व्यक्ति आये और उन्होने आकर कहा—"हम गुजराती ब्राह्मण हैं, हमारे पूर्वज गुजरात के अमुक स्थान के थे। हम इनका दाह संस्कार कर आवेंगे।" यह कहकर वे उन मृतक को बड़ी धूम धाम से ले गये। सब कार्य करा कर वे लोग चले गये, फिर किसी ने उन्हे नहीं देखा।

इस प्रकार एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं, कि भगवान् स्वयं ही अपने भक्तों के समस्त कार्यों को करते हैं। आप ही सोचो भगवान् यदि भक्तों की इतनी देख रेख न रखें, इतनी भक्तवत्सलता न प्रकट करें तो भक्तों का कैसे निर्वाह हो, व किस प्रकार ऐसे निर्भय होकर संसार में विचरें। बहुत से लोग कहते हैं—"संसार कर्माधीन है, जैसा करोगे वैसा भरोगे। अच्छे कर्म करोगे सुख पाओगे, बुरे कर्म करोगे दुख पाओगे। कर्म की रेख पर कोई भी मेख नहीं मार सकता। यह विश्व तो कर्मप्रधान है। जो जिसका पेड़ लगावेगा उसे उसी का फल मिलेगा जब सब कर्माधीन ही हैं, तो फिर हम अच्छे कर्म करें भक्ति करने से क्या लाभ है ?"

भक्तिमार्ग कर्म का विरोध नहीं करता। उसे इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति नहीं, कि कर्मों का फल अवश्यम्भावी है, अमिट है। अच्छे कर्म करेंगे तो हमें मर कर स्वर्ग की प्राप्ति होगी, चढ़ने को विमान मिलेंगे, स्वर्गीय अप्सरायें मिलेंगी, पीने को अमृत मिलेगा और घूमने फिरने को नन्दन-कानन। यदि बुरे कर्म करेंगे तो नरक की प्राप्ति होगी, वहाँ नाना प्रकार की यातनायें सहनी पड़ेगी।

भक्त कहता है—"हम भगवान् की भक्ति नरक के भय से अथवा स्वर्ग के लोभ से नहीं करते। हम यो भक्ति केवल भक्ति के ही लिये करते हैं। हमारा मन मदनमोहन के चरणारविन्दों में लगा रहे यही एकमात्र हमारी अभिलाषा है। शरीर से तो कभी अच्छे काम भी बन जाते हैं, कभी बुरे भी उन्हें हम मेटने के लिये भक्ति नहीं करते। उनके फल हमें भोगने पड़ेंगे इससे भी हम नहीं डरते। हमें जन्म-मरण का भी भय नहीं है। हम यह भी नहीं चाहते कि हमारे पुण्य-पाप समाप्त होकर मुक्त हो जॉय। आवागमन के चक्कर से सदा के लिये छूट जॉय इन बातों की

और हम ध्यान ही नहीं देते। प्रभु से इन बातों के लिये कुछ कहते भी नहीं। भक्ति करके हम कर्म-मार्ग में रोडा अटकाना नहीं चाहते। कर्म सिद्धान्त को असफल बनाने की हमारी भावना नहीं। कर्म विधान को व्यर्थ करने की हमारी इच्छा नहीं। पूर्व कर्मानुसार हमें सुख मिले या दुख, नरक मे वास हो या स्वर्ग मे मनुष्य योनि मिले या कीट पतग, एक जन्म मिले या असख्यों, शरीर सुन्दर हो या कुष्ट युक्त। ये सब तो कर्मानुसार जसे होने हों वैसे हों। इन सब में व्यवधान डालना नहीं चाहते। हमारी प्रार्थना तो यही है, कि हमारे मन मन्दिर से हमारे परम श्रेष्ठतम प्रभु की माधुरी मूर्ति अन्तर्हित न हो। मरते-मरते हम अपने श्यामसुन्दर के चरणों का चिन्तन करते रहें सूकर कूकर जिस जन्म में भी जावें हमे हरि स्मृति सदा बना रहे। दुख में, सुख में, स्वर्ग मे, नरक में, बैकुण्ठ में, देव योनि मे, मनुष्य, पशु- पक्षी अथवा कीट-पतग योनि मे हमारा नाम-स्मरण, भगवत् चिन्तन और भगवत् श्रवण चलता ही रहे। स्वभाव अच्छे बुरे कर्म जो हो जाँय, उनका फल मिलना ही चाहिये और उन्हें भोगने को हम सदा-सर्वदा प्रस्तुत हैं, किन्तु हमारा मन भगवत् चरणारविन्दो में फँसा रहे। मरते-मरते भी हम उन्हें भुला न सकें।

भक्त कभी भी धन, ऐश्वर्य, सुगति, शारीरिक सुख इन सबकी इच्छा नहीं रखता। उसकी एक ही अभिलाषा है हम कैसे भी रहें कहीं भी रहे, भगवान् के बनकर रहे, उन्हीं के चरित्रों का चिन्तन मनन और श्रवण करते-करते हमारा कालक्षेप हो। यही बात सनकादि मुनियों ने भगवान् से कही है।

सनकादि मुनि माया के-काम क्रोध लोभादि-विकारों से सर्वथा रहित हैं। वे भगवान् के दर्शनों के निमित्त बैकुण्ठ में गये। छैः ड्योढ़ियों के पहरेदारों ने उन्हे नहीं रोका। जब वे सातवीं

ड्योढ़ी पर पहुँचे तो भगवान् के अतरङ्ग पार्षद जय-विजय ने उन्हें रोका। इस पर उन मायातीत मुनियों को मायारहित वैकुण्ठ लोक में भी स्वभावानुसार क्रोध आ गया। जय विजय को असुर होने को शाप दे दिया। भगवान् ने जब यह घटना सुनी तो वे दौड़े-दौड़े घटनास्थल पर आये। मुनियों की विनय की। मुनियों को अब अपनी भूल मालूम हुई। मुनियों ने सोचा—'द्वार पाल का काम ही है किसी को भीतर बिना स्वामी की आज्ञा के न जाने दे। यदि सब के लिये इच्छानुसार भीतर जाने की रोक-टोक न होती, तो द्वारपाल रखे ही क्यों जाते उन्होंने हमें रोका यह उचित ही किया। इस पर हमें क्रोध आ गया। क्रोध आ जाना तो अनुचित कर्म है। काम, क्रोध और लोभ ये ही तीन तो नरक के द्वार हैं। हमने क्रोध करके नरक का द्वार अपने आप ही खोल लिया। अब यदि हमें नरक में जाना पड़े तो उसे सहेंगे। उसके निवारणार्थ हम प्रभु से प्रार्थना न करेंगे, किन्तु वहाँ जाकर भी हमारी हरि-स्मृति बनी रहे, इसकी तो हमें प्रार्थना करनी ही पड़ेगी। अतः उन्होंने कहा—"महाराज! हमें यदि अपने कर्मों के फलस्वरूप नरकादि लोकों में जाना पड़े तो हमें यह स्वीकार है, हम सहर्ष वहाँ जाने को उद्यत हैं, किन्तु हमारी तीन प्रार्थनायें हैं।

भगवान् ने पूछा—"कौन-सी हैं वे तीन प्रार्थना। उन्हें सुनें भी तो?"

इस पर सनकादि मुनियों ने कहा—"भगवन्! हम नरक में जॉय तो वहाँ हमारा मन मधुप सदा आपके चरणारविन्द के रसपान में ही लम्पट बना रहे आपके चरणारविन्दों के अतिरिक्त अन्य किसी का चिन्तन न करे। हमारी वाणी आपके चरणारविन्द के गुणगान में उसी प्रकार सतत आसक्त रहे जिस प्रकार तुलसीजी सदा आपके चरणों में चढ़ी रहती हैं, वे

पलभर को भी पृथक् नहीं होतीं और हमारे कर्णकुहर आपके सुयश सुधा से सदा परिपूर्ण बने रहें। इस प्रकार कर्ण, मन और वाणी तो आपके श्रवण, मनन और गायन में सगम रहे, शरीर नरक में पड़ा रहे यह हमें स्वीकार है।*

इसीलिये भक्त नहीं चाहते कि कर्मानुसार फल भोगने में हमारे साथ कुछ पक्षपात किया जाय। इस बात को भगवान् मान लेते हैं, कि भक्त को कर्मभोग भोगने पड़े, किन्तु अपने भक्तों को वे ऐसी शक्ति दे देते हैं कि उन्हें दुःख, दुःख ही नहीं प्रतीत होता। दुख के समय भगवान् को बार-बार अपने भक्त की देख रेख को आना ही पड़ता है। इसलिये उनका वह दुःख अनन्त प्रकार के सुख रूप में परिणित हो जाता है, तभी तो महारानी कुन्ती ने दुःखों का ही वरदान माँगा है, कि अपुनर्भव दर्शन आपके हमें दुःख के ही समय तो होते हैं।

भक्तमाल में पुरी के परम भगवत्भक्त श्री जगन्नाथदास वैष्णव की कथा है। उन्हें संग्रहणी हो गयी थी। बार-बार उन्हें शौच जाना पड़ता था। अन्त में ऐसी दशा हो गयी कि लँगोटी अशुद्ध हो जाती। उसी समय एक बालक आ जाता, उनकी लँगोटी धोता और सब प्रकार की सेवा करता। कई दिन तक वह निरन्तर इसी प्रकार सेवा करता रहा।

एक दिन जगन्नाथदासजी ने पूछा—"भैया, तुम कौन हो, मेरी ऐसी सेवा क्यों करते हो ?"

---

* काम भव स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्तात्
चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद् यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥
(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० ४९ श्लोक)

उसने कहा—"मैं ही जगन्नाथ हूँ, तुम मेरे भक्त हो, तुम्हारी सेवा करना मेरा धर्म है, अपने भक्तों की सब प्रकार की देख-रेख मैं करता हूँ।"

जगन्नाथदासजी ने कहा—"भगवन् ! आप त्रिलोकीनाथ होकर भी ऐसा हेय कार्य क्यों करते हैं। आपके तो संकल्प मात्र से सृष्टि हो जाती है, आप पर जब मेरा दुःख नहीं देखा गया, तो आप अपने संकल्प से ही मेरे रोग को निवृत्त कर सकते थे। ऐसी घृणित सेवा आपके स्वरूपानुरूप नहीं है।"

इस पर भगवान् ने कहा—"जगन्नाथदासजी ! प्रारब्ध कर्म को तो आप भी मेंटना नहीं चाहते और मैं भी आप भक्तों की इच्छा के विरुद्ध कर्म को मेंटना नहीं चाहता। किन्तु मेरी प्रतिज्ञा है, भक्तों के योगक्षेम का समस्त भार मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ। जब मैंने समस्त भार ले लिया, तो फिर उसमें छोटे बड़े का प्रश्न ही नहीं उठता।"

साराश यह है कि भक्त जब सब प्रकार से भगवान् के शरणापन्न हो जाते हैं, तो उनके सभी काम भगवान् स्वयं ही करते हैं।"

भीष्मपितामह जब चलने में असक्त हो गये। शरशैया पर बिधे रहने के कारण हिलडुल भी नहीं सकते थे, किन्तु वे भगवान् को देखते-देखते शरीर छोडना चाहते थे। तब भगवन् वासुदेव स्वय ही हस्तिनापुर से चलकर उनके समीप पहुँचे और जब तक उन्होंने देह त्याग नहीं किया, उनके सम्मुख ही बैठे रहे। यही भगवान् की भक्तवत्सलता है।

गृद्धराज रावण के प्रहारों से आहत हो गया था, उसके मुख से निरन्तर रक्त निकल रहा था। उसकी चेतना लुप्त हो गयी थी, उस समय वह भगवान् का ध्यान करने में सर्वथा असमर्थ था। भक्त भयहारी भगवान् स्वयं उसके समीप पहुँच गये। वह

स्मरण न भी कर सका, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी ने उसका स्मरण किया। उसे अपनी गोदी में बिठाकर बार-बार चाचा-चाचा कह कर पुकारते रहे। मरते समय जो भगवान का स्मरण करते हैं, वे भक्त धन्य हैं। किन्तु जिनका मरते समय भगवान् ही स्मरण करें उनके भाग्य का तो कहना ही क्या है।

यही बात एक बार भूदेवी ने वाराह भगवान् से पूछी—"भगवन्! जो आपके ऐसे भक्त हैं कि जीवन भर उन्होंने आपका स्मरण किया, किन्तु मरते समय उनकी वाणी रुक गयी या कोई ऐसा असाध्य रोग हो गया, कि वे आपका स्मरण न कर सके, तो उनकी क्या गति होगी?"

इस पर भगवान् वाराह ने कहा—"देवि! जो पुरुष शरीर के स्वस्थ रहने पर, मन के स्थिर रहने पर, सब धातुओं की साम्यावस्था में मुझ विश्वरूप अनादि अज अच्युत का स्मरण करता है, यदि वह मरते समय काष्ठ पाषाण के सदृश हो जाता है, तो उस म्रियमाण अपने भक्त का मैं ही स्मरण करता हूँ, मैं स्वयं ही उसका स्मरण करके उसे परमागति को प्राप्त करा देता हूँ, अर्थात् स्वयं ही उसे अपने लोक में ले जाता हूँ *

यह जीव कब से संसार में अपने प्रेमी तथा सहायक की खोज में भटक रहा है। संसार में प्राणी अपने को दुखी तथा असहाय अनुभव करता है। इसीलिये वह इस आशा से सबकी ओर देखता है, कोई मेरे दुःख को दूर कर दे, कोई मेरी सहायता कर दे। इसे यही एक शिकायत है मुझ से कोई प्रेम नहीं करता। सब लोग स्वार्थी हैं। मैंने बड़े बड़े धनिकों को,

---

* स्थिरे मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः।
धातुसाम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपमजं हि माम् ॥
ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

बड़े बड़े राजा महाराजाओं को, सुन्दर से सुन्दर महिलाओं को उच्च से उच्च पद प्रतिष्ठा वालों को देखा है। दो ही बात का उन्हें रोना है। इनसे कोई हृदय से प्रेम नहीं करते, सब हमें ठगना चाहते हैं। विपत्ति में कोई हमारी सहायता नहीं करते। जो धनी हैं उन्हें अपने धन की रात्रि दिन रक्षा की चिन्ता है, और अधिक धन बढे इसकी तृष्णा है। जो निर्धन हैं, उन्हें रात्रि दिन धन की चिन्ता है, धनिकों से मन ही-मन ईर्ष्या करते हैं। जो सौन्दर्योपासक हैं उन्हें सुन्दरियों की और जो सुन्दरियाँ हैं उन्हें सुन्दर पुरुषों की चिन्ता है। वे रात्रि दिन इसी चिन्ता में घुले जाते हैं। इष्ट वस्तु को पा लेने पर कुछ काल के लिये वे भले ही सुख का अनुभव करें, किन्तु अन्त में उससे भी उनको सुख नहीं मिलता। वे ज्यों के-त्यों अतृप्त बन रहते हैं। तृप्त हो भी तो कैसे हों इनका मार्ग ही विपरीत है। जो स्वय नाशवान् हैं उनसे शाश्वती शान्ति कैसे प्राप्त होगी? जो स्वय असत् है उनसे सत् सुख कैसे मिलेगा? जो स्वय जड़ हैं उनसे नित्यचैतन्य रस कैसे स्रवेगा, जो स्वय निरानन्द हैं उनसे आनन्द की इच्छा रखना भारी भूल है। इसीलिये हे मेरे भूले भटके भाई बहिनो! स्थिर चित्त करके मेरी बात सुन लो। मैंने ससार का बड़ा कटु अनुभव किया है, छोटे बड़े, प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित, धनी, दरिद्र सभी से मैं मिला हूँ, सभी क्षेत्र के नेताओं के सम्पर्क में रहा हूँ। तुम यदि प्रेम के इच्छुक हो, तो इन ससारी विषयों में फँसे लोगों से प्रेम की आशा छोड़ दो। हाँ, विषयवासना की पूर्ति करनी हो तो बात दूसरी है, सो इनसे विषयों की भी पूर्ति होना असभव है। यदि तुम धन पाकर सुखी होना चाहते हो, तो यह तुम्हारी भारी भूल है। धन से ही यदि सुख होता, तो ये धनी सभी सुखी होते। किन्तु मैंने अत्यन्त ही निकट से इन धनिकों को देखा है, इनमें

एक भी सुखी नहीं। यही नहीं ये लोग हम साधारण आदमियों से भी अधिक दुखी है, इन्होने सुख के निमित्त जो विविध भाँति की सामग्रियाँ एकत्रित कर रखी हैं, वे सुख की वस्तुएँ ही उनके दुख का कारण बन गयीं हैं। ऊँचे पद वाले अधिक अतृप्त अत्यन्त दुखी और बहुत चिन्तित देखे गये। निर्धन तो दुखी हैं ही उन्हें पग पग पर आवश्यक सामग्रियों का अभाव खलता है। सुखी वही है जिसने सुखस्वरूप श्रीहरि से कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। भगवान् से जिन्होने अपना पुत्र, मित्र, पति, स्वामी तथा ईश्वर भाव का नाता जोड लिया हैं, नित्य से सम्बन्ध हो जाने पर उनका सुख भी नित्य ही हो जाता है। भगवान् ऐसे भोरे हैं कि उन्हें भक्त जो भी बनाना चाहें वे ही बन जाते हैं। भगवान् ने श्रीकृष्णावतार में ये सभी सम्बन्ध प्रत्यक्ष करके दिखा दिये। पाडवों ने भगवान् में इन सभी भावों का दर्शन किया। वे युधिष्ठिर को अपना पूज्य मानते थे, अर्जुन के साथ उनकी मैत्री थी, सभी पाडव उन्हें अपना स्वामी ईश्वर तथा सर्वस्व समझते थे। उनसे जो सम्बन्ध जोड लेता है, उसकी वे प्रत्यक्ष सेवा करते हैं। उसके सभी कार्यों को अपने निजी कार्य समझकर अपने करों से करते हैं। तभी तो भगवान् का नाम भक्तवत्सल तथा भक्तवाञ्छाकल्पतरु है। भागवती कथा के पाठकों में बहुत से भक्त होंगे। जो न भी होंगे वे 'भागवती कथा' पढते पढते भक्त बन जायँगे। हमारी समस्त भगवत् भक्तों से प्रार्थना है, वे समस्त भागवती कथा के परिवार को आशीर्वाद दें कि सभी भगवान् के भक्त बनें। सभी की गति-मति-रति भगवान् के ही चरणारविन्दों में हो। सभी के हृदयों में आनन्द समा जावे सभी के दुख भग जावें। एवमस्तु-तथास्तु।

गगा के बीच में झूसी (प्रयाग)   विनीत
श्रीराधाष्टमी २००६ वि०—   प्रभु दत्त

श्रीकृष्ण-उद्धव सम्वाद की प्रस्तावना

[१२१७]

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥
ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ।
सलोकाँल्लोकपालान् नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ६ अ० २६, २७ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस वसु, रुद्र, पितर, ऋषि, मुनि, शिव, सुरगन ।
सब मिलि प्रभु ढिँग गये द्वारका सँग चतुरानन ॥
नन्दन वनके सुमन विपुल प्रभुपै बरसाये ।
नव जलधर सम छटा निरखि सब अति हरषाये ॥
करि दरशन घनश्यामके, दुःख, शोक, सबके भगे ।
सुललित पद अति मधुर स्वर, तैं इस्तुति करिबे लगे ॥

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—राजन् ! ब्रह्माजी भगवान् श्रीकृष्ण के समीप आकर निवेदन कर रहे हैं—"हे अखिलाधार ! इस समय आपके लिये देवताओं का कोई कार्य करने को अवशेष नहीं रहा । और आपका यह कुल भी ब्राह्मणों के शाप से नष्टप्राय बन चुका है । अत. यदि आप उचित समझें तो अपने परम धाम में प्रवेश करके सब लोकों के सहित हम लोकपालों का—जो आपके किंकर हैं—पालन कीजिये ।"

स्वामी अपने सेवकों को जिस कार्य पर नियुक्त कर देता है, कर्तव्य परायण सेवक उस कार्य को सदा तत्परता के साथ करते रहते हैं। जिसे स्वामी ने नियुक्त कर दिया है कि, हमें समय की सूचना देता रहे, तो वह निरन्तर सूचना देता रहेगा। यद्यपि वह जानता है-स्वामी को विदित है कि अब कौन सा समय है, फिर भी यह अनजान की भाँति जताता है, क्योंकि स्वामी ने उसकी नियुक्त ही उसी कार्य के ऊपर की है। वह स्वामी को सिखा नहीं रहा है अपने कर्तव्य का पालन मात्र कर रहा है। किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का एक पाचक था। वह उनका भोजन बनाता था। दैवात् स्वामी को संग्रहणी हो गयी। उसमें ऐसा होता है, भोजन पचता है नहीं, किन्तु मुख में सदा भूख-सी बनी रहती है, खाते खाते तृप्ति नहीं होती। इच्छा बनी रहती है- और खालें और खालें। चिकित्सक ने बताया—तुम पतली-पतली चार रोटी खाया करो, इससे अधिक मत खाया करो। उन्होंने अपने रसोइया ने कह दिया—"मुझे चार ही रोटी दिया करना, अधिक मैं माँगू भी तो भी मत देना।"

रसोइया ने कहा—"अच्छी बात है, जैसी आपकी आज्ञा होगी वैसा ही मैं करूँगा।"

उसी दिन से वह नित्य चार रोटी देता। एक दिन उनसे न रहा गया, बोले—"भाई आज दो रोटी और दे दे पेट नहीं भरा।"

रसोइया ने कहा—"महाराज! मैं तो देने का नहीं।" यह स्वामी को बहुत बुरी लगी। उन्होंने उसे डाँटा डपटा कहा—"हम तुझे निकाल देंगे।" उसने कह दिया आप चाहे जो करें आप स्वामी हैं, किन्तु मैं रोटी न दूँगा।" क्या करते वे रसोइये को निकाल कर उठ गये।

जिस वस्तु के सेवन से हानि होती है, वह सम्मुख आ जाता

है तो विवेक नहीं रहता। उसके हट जाने पर तव विवेक उत्पन्न होता है। फिर सोचते हैं—मैंने ऐसा क्यों किया! इसी प्रकार भोजन से उठ जाने पर पीछे उन्हें विवेक हुआ। रसोइया जव अपना विस्तरा बाँध कर चलने लगा, तव स्वामी ने उसे बुलाकर पारितोषिक दिया और उसकी इस कर्तव्य परायणता पर प्रसन्न होकर वेतन-वृद्धि भी कर दी।

अब यहाँ विचारणीय विषय यह है, कि वस्तुएँ सब स्वामी की थीं। रसोइया भी स्वामी का ही वेतन-भोगी भृत्या था। स्वामी के माँगने पर भी जो उसने रोटी न दी, तो उसने अपने कर्तव्य का पालन किया। इस पर कह सकते हैं एक वार स्वामी ने न देने की आज्ञा की थी, आज वह उसे तोड़ने की आज्ञा दे रहा है, तो पाचक को देना चाहिये। किन्तु यहाँ तो उसकी यह भी आज्ञा थी कि मैं माँगू भी तो मत देना। इसलिये उसने माँगने पर भी न देकर दृढ़ता का पालन किया। सेवकों का काम है उनकी बताई विधि से सेवा करना। पूजन के पूर्व देवता का श्रद्धा सहित आवाहन करते हैं, भक्ति पूर्वक बुलाते हैं, जब आ जाते हैं, तो उनका पूजन करते हैं। पूजन करने के अनन्तर विसर्जन करते हैं, किन्तु विधि का तो पालन करना ही है। स्वामी ने सेवा की यही विधि बताई है, स्वामी की बताई विधि का पालन करना यही सेवक का धर्म है, यही उसका प्रधान कर्तव्य है। दुःख पड़ने पर देवगण भगवान् से आने की—अवतार लेने की—प्रार्थना करते हैं, जब दुःख दूर हो जाता है तो उन्हें पुनः स्वधाम पधारने की प्रार्थना करते हैं। जीवों के लिये यह कर्मबन्धन है, भगवान् की यह लीला है, क्रीड़ा है, आत्म-रति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् वासुदेव ने मथुरापुरी में अवतार धारण करके व्रज में दिव्यादिव्य लीलायें कीं। असुरों

का संहार किया, द्वारका पुरी में आकर गार्हस्थ्य धर्म का अनुकरण किया, कुरु क्षेत्र में भाई-भाइयों को लड़ाकर भूमि के भारभूत भूपतियों को बुलाकर उनका संहार कराया। अभिमान के कारण बढ़े हुए अपने कुल को शाप दिलाकर भगवान् की अब स्वधाम पधारने की इच्छा हुई। उनकी इच्छा को समझकर उन्हीं की प्रेरणा से उनके नियुक्त किये हुए लोकपाल आदि उन्हें विज्ञापित करने के निमित्त उचित अवसर पर एक दिन द्वारका पधारे। उन सब के सभापति थे लोकपितामह वेदगर्भ भगवान् चतुरानन्।"

समय आने पर स्वयं ब्रह्माजी ने सोचा—"अब भगवान् के स्वधाम पधारने का समय आ गया है, इसलिये उन सर्वज्ञ को सूचित कर देना मेरा प्रधान कर्तव्य है।" यही सोचकर वे अपने प्रधान-प्रधान पार्षदों सहित प्रभु की सेवा में चले। सर्व प्रथम उन्होंने भूतनाथ भगवान् भव से कहा—"शिवजी! चलो, अब भगवान् के वैकुण्ठ पधारने का समय हो गया, उन्हें सूचित तो कर आवें। ऐसा न हो पीछे हमसे कारण पूछा जाय, कि तुम लोगों ने हमें सूचना क्यों नहीं दी ?"

यह सुनकर शिवजी बोले—"अच्छी बात है पिताजी! चलो, भगवान् के दर्शन भी होंगे और अपना पूरा कर्तव्य भी पूरा हो जायगा। वैसे तो वे सर्वज्ञ हैं उन्हें क्या सूचित करना है, किन्तु हमें तो अपनी ओर से सूचना देनी ही चाहिये। अब यह बताइये अकेले ही चलें या दल बल के सहित ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भाई! यदि निजी रूप से जाते तो अकेले चले जाते। अब तो अनुशासन के अनुसार राजकीय कार्य से नियमानुसार जा रहे हैं, अतः साङ्गोपाङ्ग पार्षदों और परिचारकों के साथ चलो।"

यह सुनकर शिवजी ने अपने भूत प्रेत पिशाचों को आज्ञा दी। डाकिनी साकिनियों ने कहा—"महाराज! हम भी चलें ?" डाँटकर

शिवजी ने कहा—"नहीं, तुम्हारा काम नहीं है।" यह सुनकर वे अपना सा मुँह लिये हुए लौट गयीं। भूत प्रेत पिशाच भूतभावन भगवान भवानीपति को घेर कर खड़े हो गये। ब्रह्माजी के चारों ओर भी अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, नारद, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन तथा उनके अन्यान्य दक्ष आदि पुत्र खड़े हो गये। ब्रह्माजी ने जिन-जिनको प्रजापति, लोकपाल तथा उपलोकपाल के पदों पर नियुक्त किया था, वे भी अपने अस्त्र, आयुध, वाहन और राजकीय वेष के सहित ब्रह्माजी के सम्मुख पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। बारह आदित्य, उनञ्चास मरुद-गण, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, एकादश, रुद्र, विश्वेदेव गण, साध्यगण, देवगण, उपदेवगण, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर तथा अन्यान्य उपदेव भी यथाधिकार अपने अपने पद के अनुसार खड़े हो गये। बन-ठन कर शृंगार करके छम्म छम्म करती हुई अप्सरायें आगयीं वे सब ब्रह्माजी के सम्मुख हाँथ बाँधकर सिर नीचा करके खड़ी हो गयीं। प्रथम ऋषि मुनियों ने स्वस्त्ययन किया। अप्सराओं ने मङ्गलगान नृत्य किया। ब्रह्माजी के सम्मान में सबने आभार प्रदर्शन किया। अपनी हंस के समान स्वच्छ दाढी पर हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी ने सबका अवलोकन किया। फिर उन्होंने आज्ञा दी—"सब लोग द्वारका की ओर प्रस्थान करें।"

ब्रह्माजी की आज्ञा पाते ही सब अपने अपने विमान और वाहनों पर चढकर द्वारका की ओर चल दिये। द्वारका में पहुँच कर वे सब लोग अपने अपने वाहनों से उतर पड़े। उन्होंने सम्मुख सुवर्ण की बनी सर्वाङ्ग शोभित त्रिभुवनका मुकुटमणि उस द्वारावति नगरी में भगवान् के उस श्रीविग्रह के दर्शन किये, जिसके द्वारा नरलोक मनोरम भगवान् वासुदेव ने सम्पूर्ण संसार के मल को हरने वाले अपने परम पावन सुयश का सम्पूर्ण संसार

में विस्तार किया है। द्वारकापुरी की अद्भुत शोभा निहारते हुए वे सब-के-सब भगवान् के सुविस्तृत प्रांगण में पहुँचे, जहाँ कल्प-वृक्ष अपने सुमनों के सुवास से सम्पूर्ण पुरी को सुवासित बनाये रहता है। समस्त शोभा, समृद्धि और सिद्धि से सम्पन्न उस पुण्यपुरी में विराजमान् भगवान् के अत्यद्भुत छटा को निहार कर सब-के-सब परम विस्मित हुए। वे भगवान् के अद्भुत रूप, लावण्य, तेज, ओज, आकर्षण तथा सौंदर्य को निहारकर चित्र लिखे से रह गये। अपलक भाव से सतृष्ण नेत्रों से प्रभु की रूप छटा रूपी सुधा का अतृप्तभाव से पान करने लगे। सभी चलते समय स्वर्गलोक से टोकरियों में भर भरकर नन्दन कानन के अम्लान सुगन्धयुक्त सुमन लाये थे। उन सबने अपने करकमलों से उन सुमनों को श्रद्धा सहित प्रभु के पादपद्मों में अर्पित किया और उनके ऊपर उनकी वर्षा की। भगवान् के श्रीअङ्ग पर इतने पुष्प चढ़े कि भगवान् का सिंहासन सहित श्रीविग्रह सुमनों से आच्छादित हो गया। भगवान् ने कृपाभरी दृष्टि से सबकी ओर निहारा। सभी पंक्तिबद्ध खड़े हो गये और एक स्वर में, एक लय में, ताल और राग के सहित स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवतागण अपने पैरों से पृथ्वी का स्पर्श तो करते नहीं। बिना आश्रय के आकाश में स्थित होकर उन सबने विविध भाँति से सर्वान्तर्यामी द्वारकाधीश की स्तुति की। इतनी लम्बी-चौड़ी स्तुति को सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"देवताओं! आज तो बड़ी लम्बी चौड़ी स्तुति कर रहे हो। बात क्या है, अपना प्रयोजन कहो। स्तुति तो सुन ली, अब काम की बात बताओ, क्या चाहते हो?"

यह सुनकर शिवजी तथा अन्य देवतागण उत्तर देने के लिये ब्रह्माजी को उकसाने लगे। इस पर लोकपितामह भगवान् चतुरानन कहने लगे—हे सर्वान्तर्यामी! हे विश्वम्भर! आप तो घट-घट

को जानने वाले हैं, आप से कौन-सी बात छिपी है। फिर भी आप जानबूझकर लीला के लिये अनजानों की भाँति पूछते हैं, तो मैं आपकी आज्ञा पालन करने के अभिप्राय से आप से निवेदन करता हूँ। पहले हम सब पृथ्वी को साथ लेकर क्षीरसागर में आपके दर्शनों के लिये गये थे और आपसे भू का भार उतारने की प्रार्थना की थी।

भगवान् ने कहा—"भाई! तुम लोगों की प्रार्थना पर ही तो मैंने अवनि पर अवतार धारण किया है।"

ब्रह्माजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"हाँ प्रभो! यही तो मैं निवेदन करता हूँ, आपने कृपा करके हमारी प्रार्थना स्वीकार की थी। भूमि का भार उतर गया। जिस कार्य के लिये प्रार्थना की थी, वह समुचित रूप से सम्पन्न हो चुका। पहिले असुरों के आतङ्क के कारण साधु प्रकृति के पुरुष धर्म कर्म करने में कष्ट का अनुभव करते थे। अब आपने असुरों का विनाश करके सत्यपरायण साधु पुरुषों में धर्म की स्थापना कर दी। सम्पूर्ण लोकों में जो अज्ञान रूप कोहरा छाया हुआ था, उसे अपने प्रचण्ड प्रताप से छिन्न भिन्न कर दिया। अधर्म से सतप्त प्राणियों की प्रसन्नता के निमित्त आपने अपनी कीर्ति रूपी चन्द्रिका को छिटकाकर दशों दिशाओं को उद्भासित कर दिया। इस यदुकुल रूप सागर में सुन्दर स्वच्छ अमल चन्द्र के समान प्रकट होकर अपनी सुधामयी शुभ्र ज्योत्स्ना रूपी कथा को प्रकाशित करके सबके मन को प्रफुल्लित बना दिया। अपने सौंदर्य सुधा रूप दिव्यासव से सभी को आत्मविस्मृत बना दिया। ऐसे अनिन्द्य अनुपम अवतार को धारण करके ससार के उद्धार के निमित्त अनेकों उदार पराक्रम से युक्तकार्य किये। प्रभो असुरों का सहार करना यह तो एक अति तुच्छ साधारण कार्य है, वह तो आपके तनिक से सकल्प से किंचित् भ्रुकुटि वक्र करने मात्र से ही हो सकता

था। किन्तु ! भगवन् ! आपके अवतार का मुख्य हेतु तो भागवती कथाओं का प्रकट करना है। आप जो दिव्य अलौकिक सुखप्रद चरित्र करेंगे, उसे कविगण काव्यरूप में वर्णन करेंगे उन कथाओं का जो श्रवण, कीर्तन करेंगे वे भवसागर से सुगमता पूर्वक तर जायँगे। कलियुगी जीवों के लिये तो अन्य कोई गति ही नहीं। अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणियों के लिये आपकी कथाओं के श्रवण पठन के अतिरिक्त संसार से पार होने का सरल, सुगम अन्य उपाय ही नहीं।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"ब्रह्माजी, अभी तक आप शिष्टाचार ही कर रहे हो। इतनी बातें कहने पर भी आप अपने यथार्थ अभिप्राय को व्यक्त न कर सके। स्पष्ट शब्दों में कहो बात क्या है ?"

कुछ संकोच के स्वर में भगवान् ब्रह्मा बोले—'हे पुरुषोत्तम ! आप सब जानते ही हैं। अवनिपर अवतरित हुए एक सौ पचीस वर्ष हो गये। कलियुग के मनुष्यों की साधारण आयु का परिमाण इतना ही आपने निर्धारित किया है और आप नरनाट्य कर ही रहे हैं। अजन्मा होकर आपने जन्म सा लिया, क्रोध रहित होकर आपने क्रोध सा किया। जिन देवताओं के कार्य करने के निमित्त आपने नरवपु धारण किया था, वह कार्य सम्पन्न हो गया, अब अमरों का कोई कार्य अवशिष्ट रहा नहीं। जिस कुल को आपने अपने जन्म से विश्वविख्यात बनाया है वह भी विप्र-शाप से नष्टप्राय हो चुका है। अब ऐसा लगता है आपने अपनी लीला का उपसंहार कर लिया। यदि आप अब उचित समझें कि अवतार कार्य समाप्त हो चुका और स्वयं आपकी इच्छा हो, तो हम सब यही प्रार्थना करते हैं कि अब आप अपने परम धाम को प्रसन्नता पूर्वक पधारें और हम सब अनुचरों को अनुगृहीत करें।

हँसकर भगवान् बोले—"अरे देवताओ! तुम बड़े स्वार्थी हो। जब तुम्हारा काम पड़ा तब तो पुकारने लगे—'आओ, आओ।' अब जब तुम्हारा स्वार्थ सध गया, तब कहते हो—जाओ-जाओ, पधारो-पधारो।"

लज्जित होकर ब्रह्माजी बोले—"भगवन्! आपही ने तो हमें सिखाया है, प्रथम आवाहन करना फिर विसर्जन करना। हमने आपकी बनायी विधि का पालन कर दिया, अब करने कराने में आप स्वतन्त्र हैं। सर्व समर्थ हैं, जो इच्छा हो सो करें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रभु बोले—"नहीं, ब्रह्माजी! मैं तो जैसा आप कह रहे हैं उसे प्रथम ही निश्चय कर चुका हूँ। अब मैं इस लीला को संवरण करना ही चाहता हूँ। तुम लोगों ने मुझसे जिस काम के लिये प्रथम प्रार्थना की थी वह पूरा हो गया। पृथ्वी का भार उतर गया। मेरे प्रभाव, प्रताप, बल, विक्रम तथा वैभव से बढ़ा हुआ यह यदुकुल संसार के लिये एक विचित्र भार बना हुआ है। मेरे कारण इस कुल को कोई पराजित भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार समुद्र का तट उमड़ते हुए समुद्र को रोके रहता है, उसी प्रकार मदोन्मत्त इस यादवकुल को भी मैं रोके हुए हूँ। जिस काँटे से पैर के काँटे को निकाला था, वह काँटा ही अन्य पैरों को पीड़ा देने को पथ पर प्रस्तुत है। अतः काँटे से काँटे को निकालकर और उसे निकालने वाले काँटे की भी नोक को तोड़ कर उसे निर्वीर्य बनाकर तब आगे बढ़ना चाहिये। मेरे आश्रय के कारण यह यदुकुल स्वयं अपनी उद्धत्ता से संसार ग्रास करना चाहता है। इस कुल का संहार किये बिना ही यदि मैं इस लीला को समाप्त करता हूँ, तो यह उच्छृङ्खल यादव समुदाय समस्त संसार को नष्ट कर देगा। इसीलिये मैंने शील-संकोच नहीं किया है। विप्रों से इस कुल को नाश होने का शाप दिला दिया। अब कुछ ही काल में यह

काल कवलित हो जायगा। अपने इस कुल का अन्त करके और भली-भाँति भू का भार उतारकर तब मैं तुम्हारे धाम में आऊँगा। आपके सब लोकों को कृतार्थ करता हुआ अपने धाम को जाऊँगा। आप धैर्य धारण करें।"

नैमिषारण्य निवासी शौनकादि मुनियों से सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् के ऐसा कहने पर सभी देवतागण परम प्रमुदित हुए। उन सबने विश्वनाथ भगवान् वासुदेव की परिक्रमा की, उनके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम किया और उनसे अनुमति लेकर अपने-अपने लोकों को चले गये। अब जिस प्रकार विश्वभावन भगवान् यदुकुल का नाश कराने के प्रथम उद्धवजी के पूछने पर गूढ तत्वज्ञान का उपदेश देंगे, उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा। उद्धवजी तो भगवान् के साक्षात् रूप ही हैं, उन्हें तो कोई शंका हो ही नहीं सकती। किन्तु भगवद्भक्त जो भी करते हैं, जगत् के उपकार के ही निमित्त करते हैं। इसलिये उद्धवजी के ये प्रश्न हैं, ये सब संसारी लोकों के उद्धार के ही निमित्त हैं।

छप्पय

करि विनती अज कहैं नाथ! भूभार उतारयो।
पापी असुरनि मारि देव द्विज दुःख निवारयो॥
हम सब प्रभुवर खड़े कृपा करि हमें निहारें।
अब न रह्यो कछु काम धाम घनश्याम पधारें॥
हँसि बोले रुक्मिनिरमन, शेष अबहिँ कछु काम अज!
यदुकुल को संहार करि, तब आऊँ पुनि धाम निज॥

उद्धवजी की भगवान् से विनय

[१२१८]

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ६ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि देव निज धाम सिधारे।
पुरी द्वारका माहिँ सबनि उत्पात निहारे॥
बोले सब तैं श्याम नित्य अपशकुन दिखावें।
सब मिलि चलो प्रभास पितर सुर पूजि सिहावें॥
करिबे शान्ति अनिष्ट की, सब चलिबे उद्यत भये।
हरि हिय की सब समुझिकें, उद्धवजी प्रभु ढिंग गये॥

हाय ! हाय ! इस संसार का कैसा वीभत्स व्यापार है। बच्चा उत्पन्न होता है, किसलिये ? मरने के लिये। फल पकता है, गिरने के लिये। शरीर बढ़ता है, छोटा होने के लिये। सूर्यनारायण ऊपर

---

* *श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—राजन् ! भगवान्* का स्वधाम पधारने का अभिप्राय समझकर उद्धवजी भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहने लगे—"हे केशव ! मैं तो आपके चरणारविन्दों को एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ सकता। हे नाथ ! आप स्वधाम पधारना चाहते हैं तो मुझे भी अपने साथ लेते चलें।"

चढते हैं गिरने के लिये। इसी प्रकार सयोग होता है वियोग के लिये। सुख होता है दु ख के लिये। अपना प्रेमी, अपना सुहृद्, अपना सखा, अपना स्नेही मिल जाता है, तो शरीर का रोम-रोम खिल जाता है, हृदय सरोवर मे प्रेम की हिलोरें मारने लगती हैं, मुखकमल विकसित हो जाता है। उन्हीं के विषय में जब सुनते हैं कि वे कल चले जायँगे, तो हृदय कैसा हो जाता है उसका वर्णन करना मानव शक्ति के बाहर की बात है। जिन्होंने हमें निरन्तर अपने स्नेह वारि से पाला पोसा है, जिनके साथ हँसे हैं, खेले हैं, नेह में भर कर रोये हैं। जिनके साथ बठकर खाया है, जिनके साथ मधु से भी मीठी-मीठी बातें करके बड़ी लम्बी लम्बी रात्रियों को, ज्येष्ठ-वैशाख के बडे-बडे दिनों को क्षण के समान बिताया है, वे ही सहसा हमें बिलखता छोड़कर चले जायँगे, इसकी कल्पना होते ही शरीर काँपने लगता है और ब्रह्मा बाबा की बुद्धि पर क्रोध आता है कि यदि उन्हें प्रिय-वियोग कराना ही था, तो सयोग सुख दिया ही क्यों ? परन्तु अब उनसे वाद विवाद कौन करे ? हम लोग एक मुख वाले, वे चार मुख वाले। जब तक हम एक बात करेंगे, तब तक वे चार बात कह जायगे। जो अपने से चौगुना है उससे बोलना व्यर्थ। अतः बूढे बाबा की बुद्धि की विपरीतता विचारते हुए भी हम विवश हो जाते हैं। मन ही मन उन्हें कोसते हुए हृदय पर पत्थर रख कर प्रिय वियोग को सहन करते हैं। सहन न भी करें तो क्या करें। जो अत्यन्त प्यारा होता है वह अत्यत निष्ठुर भी तो होता है। पाटल (गुलाब) के पुष्प में काँटे तो होते ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब देवगण भगवान् की आज्ञा से चले गये, तो भगवान् ने स्वधाम पधारने का निश्चय किया। भगवान् के सकल्प करते ही श्री का भी सकल्प हो गया। क्योंकि

श्री भगवान् के बिना रह ही नहीं सकती। जब संकल्प से भगवान् इस धराधाम को त्याग कर अपने परमधाम में पहुँच गये तो द्वारका निःश्री सी दिखाई देने लगी। वहाँ नित्य-नित्य नये-नये उत्पात सूचक अपशकुन होने लगे। कभी-कभी बिना बादलों के बिजली चमकने लगती, बिना पर्व के ही राहु सूर्य को ग्रस लेता, बार-बार भूकम्प होने लगता। नगर के दक्षिण ओर बहुधा उल्कापात हो जाते, दिन में घरों मे मांस-भोजी गीदड़ आदि घुस जाते। देव-मन्दिरों पर, पवित्र स्थानों पर चील, गीध, कौए तथा अन्यान्य मांस-भोजी पक्षी मँड़राने लगते। गिद्ध घरों के ऊपर बैठ जाते। कुत्ते सिर ऊँचा करके रोने लगते, घोड़े अश्रु बहाते रहते। उल्लू कपोत रोते हुए भयंकर शब्द करते, दिशायें धूम्र वर्ण की हो जातीं। कभी-कभी रक्त की वर्षा होने लगती। आकाश के ग्रह परस्पर में टकरा जाते, घृत की आहुतियाँ पड़ने पर भी हुतासन प्रज्वलित नहीं होते। गौएँ बैल तथा अन्यान्य पशु रोते रहते। सर्वत्र सूना-सूना दिखायी देता। इसी प्रकार के अनेक अनिष्ट सूचक अपशकुन सबको दीखते और सभी चिन्तित, भयभीत तथा उद्विग्न से रहते। इन सब उत्पातों को देखकर द्वारकावासी बड़े चिन्तित हुए। परस्पर में सब मिलकर कहने लगे—"यह कैसा समय आ गया, नित्य नये उपद्रव हो रहे हैं। यह बात क्या है ?"

इस पर कुछ लोगों ने कहा—"इस विषय में हमारी बुद्धि तो कुछ काम देती नहीं। भगवान के पास चलकर पूछना चाहिए।"

यह बात सभी को रुचिकर प्रतीत हुई। सब कहने लगे—"हाँ, सब मिलकर भगवान् के पास चलें।"

इस पर एक बुद्धिमान् व्यक्ति बोला—"भैया ! भगवान् के समीप बहुत भीड़भाड़ जाना उचित नहीं। कुछ वृद्ध व्यक्ति जो

अवस्था के साथ विद्या-बुद्धि में भी वृद्ध हों वे जायँ। वे जाकर भगवान से समस्त अनिष्टों को सूचित कर दें। फिर भगवान् जैसी आज्ञा प्रदान करें, वैसा ही किया जायगा।"

सबने साधु-साधु कहकर इस सम्मति का समादर किया। कुछ बूढ़े-बूढ़े व्यक्तियों को भगवान् के समीप जाने के लिये चुना। वे सबके सब बडे शिष्टाचार के साथ भगवान के समीप गये। भगवान् ने उन समागत बड़े बूढ़ों का स्वागत-सत्कार किया। कुशल प्रश्न और शिष्टाचार के अनन्तर वे बडे बूढ़े व्यक्ति बोले—"वासुदेव ! आजकल द्वारका में नित्य ही नये नये उत्पात हुआ करते हैं। अपशकुन हो रहे हैं, इसका क्या कारण है ?"

यह सुनकर भगवान् कुछ गम्भीर हो गये और फिर कुछ रुक-रुक कर बोले—"हाँ, महानुभावो ! मैं भी देख रहा हूँ, आजकल द्वारका मे अनेकों अनिष्ट सूचक अपशकुन दिखाई देते हैं। दूसरे हमारे कुल को ब्राह्मणों का दुस्तर शाप भी लग चुका है। सूर्य चाहें पश्चिम में भले ही उदय हो जायँ, किन्तु ब्राह्मणों का शाप अन्यथा नहीं हो सकता।"

वृद्धों ने पूछा—"तब महाराज ! क्या करना चाहिये, कोई उपाय बताइये।"

भगवान् बोले—"आर्यगण ! आप सब वयोवृद्ध हैं, मेरे पूजनीय हैं, आप स्वयं ही सोचें कि ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहियें। मेरी सम्मति तो यह है कि अब हमें द्वारका में रहना ही न चाहिये। यदि हम जीना चाहते हों तो हमें तुरन्त इस द्वारावती का परित्याग कर देना चाहिये।"

वृद्धो ने पूछा—"वासुदेव ! द्वारका को छोड़कर हम लोग कहाँ जावें। कोई उपयुक्त तीर्थ-स्थान बताइये, जहाँ चलकर हम अनिष्ट की शान्ति कर सकें।"

भगवान् बोले—"मेरी सम्मति में हमें प्रभास क्षेत्र मे चलना

चाहिये। प्रभास बडा ही पवित्र क्षेत्र है। समुद्र और सरस्वती का संगम है। सोमेश्वर शिवजी वहाँ सर्वदा निवास करते हैं। प्राचीनकाल मे चन्द्रमा अपनी सत्ताइस पत्नियों में से रोहिणी के साथ विशेष पक्षपात करते थे, अन्य पत्नियों से बोलते भी नहीं थे। सभी ने जाकर अपने पिता प्रजापति दक्ष से अपने पति के पक्षपात की बात कही। दक्ष ने चन्द्रमा को समझाया, किन्तु वे नहीं माने। अन्त मे दक्ष ने शाप दिया कि तुम्हारे शरीर में क्षय रोग हो जाय।" अब तो चन्द्रमा बडे घबराये। उन्होने ऋषियों से उपाय पूछा। सबने बताया—"प्रजापति दक्ष का शाप तो अन्यथा हो ही नहीं सकता, किन्तु आप प्रभास क्षेत्र म जाकर स्नान करें, शिवजी का पूजन करें, आप क्षय रोग से मुक्त हो जायगे। आपकी कलाएँ नित्यप्रति घट रही हैं वे पुन वृद्धि को प्राप्त होंगी।"

ऋषियों की सम्मति से चन्द्रमा प्रभास क्षेत्र म आये और इस तीर्थ में स्नान करते ही क्षय रोग से मुक्त हो गये। उनकी जो कलाएँ निरन्तर घट रही थीं वे बढने लगीं और पूर्णिमा के दिन पूरी हो गयीं। तभी से चन्द्रमा की कलाएँ कृष्णपक्ष में एक एक करके घटती हैं, किन्तु शुक्लपक्ष में बढते बढते पूर्णिमा को पूरी हो जाती हैं। ऐसा इस क्षेत्र का माहात्म्य है।

वृद्धा ने पूछा—"हाँ, महाराज! प्रभास क्षेत्र की प्रशसा तो पहिले से भी सुनते थे, अब आपके श्रीमुख से उसका माहात्म्य सुनकर हमें बडी प्रसन्नता हुई। अब यह आप और बतावें कि वहाँ चलकर हमें करना क्या चाहिये।"

भगवान् बोले—"महानुभावो! जब अनिष्ट की आशङ्का हो तो मनुष्यों को शुभ कर्म करने चाहिये। परम पावन प्रभास क्षेत्र में पहुँचकर प्रथम हम सब श्रद्धा सहित स्नान करें, देवता, ऋषि तथा पितरों का तर्पण करें। फिर जो सभी शुभ कर्मों में

मुख्य कर्म है ब्राह्मण-भोजन उसे करावें। कोई भी शुभ कर्म ब्राह्मण-भोजन के बिना सफल नहीं होता। ब्राह्मण भोजन सब कर्मों में अङ्गी है, शेष सब कर्म अंग हैं। अतः हम सब बड़े उत्साह के साथ ब्राह्मणों को सुन्दर सुन्दर सुस्वादु पदार्थों का भोजन करावें। पदार्थ ऐसे सुन्दर और भव्य बनावें कि बूढे बूढे ब्राह्मण बिना दाँतों के भी खा सकें। फिर उदारता पूर्वक सत्पात्रों को हम सभी वस्तुओं का दान करेंगे। दूधार हाल की ब्याई गौओं का, सुवर्ण का, वस्त्राभूषणों का तथा अन्यान्य वस्तुओं का दान करेंगे। आजकल हम विपत्ति के सागर में डूबने वाले हैं। हमारी जीर्ण शीर्ण तरनी अब डूबना ही चाहती है। स्नान, दान धर्म रूपी सुदृढ नौका के द्वारा हम इन महान् सकटों से सुख पूर्वक समुद्र के उस पार हो जायँगे।"

वृद्धों ने पूछा—"अब, महाराज यह बताइये कि प्रभास क्षेत्र को चलना कब चाहिये।"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"अब इसमें पूछना क्या ? "शुभस्य शीघ्रम्" विलम्ब करने का तो कोई कारण ही नहीं। आज ही चलें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की आज्ञा पाकर वृद्धगण तुरन्त बाहर आये। उन्होंने सबको भगवान् की आज्ञा सुना दी। भगवान् की आज्ञा पाते ही सभी यादव प्रभास क्षेत्र को जाने के लिये तैयारियाँ करने लगे। कोई वस्त्रों को बाँधने लगे, कोई रथों को निकाल कर उन्हें सजाने लगे। कोई सार-थियों को बुलाने लगे। इस प्रकार सभी यात्रा की व्यग्रता प्रकट करने लगे।"

इधर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अनन्य अनुगत परम भागवत अनन्याश्रयी श्री उद्धवजी बड़ी गम्भीरता के साथ इन नित्य नित्य होने वाले अनिष्टों के सम्बन्ध में विचार किया करते थे। वे

सोचते थे—"भगवान् के विराजमान् रहते हुए भी द्वारावती में इतने उत्पात क्यों हो रहे हैं। फिर भगवान् सबको प्रभास जाने की आज्ञा क्यों दे रहे हैं। अवश्य ही कुछ दाल में काला है। प्रतीत होता है, भगवान् अब लीला संवरण करना चाहते हैं। भगवान् के बिना इस संसार में रहकर मैं क्या करूँगा। चलूँ, भगवान् से इन सब बातों का रहस्य पूछूँ। वे भक्तवत्सल हैं प्रणतपाल हैं, अशरण-शरण हैं, उनकी मेरे ऊपर असीम कृपा है। मेरे पूछने पर वे मुझे अवश्य ही सब रहस्य बता देंगे।" यही सब सोचकर उद्धवजी शंकित चित्त से एकान्त में बैठे हुए श्रीभगवान् के समीप गये।"

उस समय भगवान् अपने एकान्त आवास में बैठे हुए ध्यान कर रहे थे। उद्धवजी की तो कहीं रोक-टोक थी ही नहीं, वे भगवान् के एकान्त स्थान में चले गये। वहाँ भगवान् को ध्यान मग्न देखकर वे ठिठक गये। पैरों की पैछर पाकर प्रभु ने अपने बड़े-बड़े कमलनयनों को खोला। उद्धवजी ने मृदुल सुखद चरण-कमलों पर अपने सिर को रखकर प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। भगवान् की आज्ञा पाकर उनके बताये हुए आसन पर वे हाथ जोड़े ही जोड़े बैठ गये।

मन्द-मन्द मुसकराते हुए माधव उनसे बोले—"उद्धव! कहो भाई अच्छे हो न? तुम्हारी मुखाकृति से मुझे प्रतीत होता है कि तुम कुछ पूछना चाहते हो। यदि ऐसी कोई बात हो तो तुम निःशंक होकर मुझसे जो पूछना चाहते हो वह पूछ सकते हो।"

यह सुनकर उद्धवजी ने पुनः प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर बोले—"हे देव देवेश! हे पुण्य श्रवणकीर्तन! हे योगेश्वर! मैं क्या पूछूँ, मुझे पूछने में लज्जा भी लगती है, संकोच भी होता है।"

भगवान् ने अभयदान देते हुए कहा—"नहीं, लज्जा संकोच की कोई बात नहीं। तुम प्रसन्नता पूर्वक निर्भय होकर पूछो।"

भगवान् का आश्वासन पाकर उद्धवजी रुक-रुककर शनैः शनैः कहने लगे—"प्रभो! आपके देखते-देखते हमारे कुल को ब्राह्मणों ने शाप दे दिया। आप कुछ भी नहीं बोले। आपके सम्मुख ब्राह्मणों का शाप वस्तु ही क्या है। आप चाहते तो तुरंत शाप का प्रतीकार कर सकते थे। आपके लिये यह कौन-सी बड़ी बात है। आपकी भ्रुकुटि विलास से असंख्यों ब्रह्माण्डों की सृष्टि स्थिति और प्रलय हो जाती है। आपने विप्र-शाप को सुनकर उसे सह ही नहीं लिया उसका मन से अनुमोदन भी किया। इससे प्रतीत होता है आप इस लोक की लीला को संवरण करना चाहते हैं। यदुकुल का संहार करके आप स्वधाम पधारना चाहते हैं।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और हँसते हुए बोले-"उद्धव! तुम तो मेरे बाहरी प्राण ही हो। मेरे मन की बात तुम सब जानते हो। तुम जो अनुमान करोगे, वह सत्य ही होगा।"

यह सुनकर उद्धवजी रो पड़े। वे मूर्छित होकर गिर पड़े। भगवान् ने अपने कर-कमलों से उन्हें उठाया और कहा-"उद्धव! इस प्रकार अधीर नहीं होते हैं भैया! अरे, तुम भी इतने अधीर होगे तो कैसे काम चलेगा।"

रोते-रोते उद्धवजी बोले—"केशव! यदि आपने स्वधाम पधारने का निश्चय ही कर लिया है, तो मुझे इस कोलाहलपूर्ण संसार में न छोड़ जायँ, मुझे भी अपने साथ स्वधाम को ले जायँ नाथ! मैं आपके बिना इस धरा धाम पर एक क्षण के लिये भी नहीं रह सकता। मैं आपके पादपद्मों का पल भर के लिये भी परित्याग नहीं कर सकता।"

भगवान् ने बात को काटते हुए कहा—"अरे भाई! मैं अभी

कहाँ जा रहे हो रहा हूँ, इस प्रसग को छोड़ो। अपनी और कोई इच्छा बताओ।"

रोते-रोते उद्धवजी बोले—"नाथ ! मेरी समस्त इच्छाओं को तो आपकी कथाओं ने नाशकर दिया है। नररूप रखकर जो आप कमनीय क्रीड़ायें किया करते हैं, वे परम मङ्गलदायिनी कथायें यदि किसी प्रकार संसारी लोगों के कर्ण कुहरों में प्रवेश कर जायँ वह कथामृत यदि कर्ण रूप पानपात्रों में भरकर पिया जाय, तो वह व्यक्ति अवश्य ही आपका भक्त बन जायगा और फिर वह समस्त ससारी इच्छाओं से रहित हो जायगा। इसलिये मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि मुझे स्वधाम पधारते समय यहाँ न छोड़ जायँ, मुझे अपने साथ-ही साथ लेते जायँ।"

भगवान् ने ममता भरी वाणी में कहा—"उद्धव ! आज तुम्हें हो क्या गया है ?"

हिचकियाँ भरते हुए उद्धवजी बोले—"मुझे आपके साथ रहने का रोग हो गया है, मुझे इन परम मृदुल चरणों के दर्शनों का व्यसन पड़ गया है। मैं इन चरणों का स्वेच्छा से कभी परित्याग नहीं कर सकता। नाथ ! जिन्होंने भाव में अथवा स्वप्न में भी इन चरणारविन्दों को एक बार क्षण भर को भी देख लिया है, वह भी इन्हें छोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता, तो अपने तो इन चरणारविन्दों के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं, इन्हें सुहलाया है, दबाया है, हृदय से लगाया है, प्रेमपूर्वक पय से पखारा है और पलकों से इनकी धूलि को झाड़ा है। एक दो दिन नहीं, वर्ष दो वर्ष नहीं प्रभो ! सौ वर्ष से भी अधिक समय तक निरन्तर मैं सेवा में सन्नद्ध रहा हूँ। मेरे लिये घर में बाहर में अन्तःपुर में कहीं रोक टोक नहीं थी। सोने के समय जो सेवक सदा स्वामी के समीप ही समुपस्थित रहता रहा हो, बैठने के समय जो सदा श्रीमुख का दर्शन करता हुआ सम्मुख बैठा रहता हो, जिसने स्वामी को

कभी अपनी पीठ न दिखाई हो, घूमने के समय जो रथ में पैदल में सदा स्वामी के पीछे छाया की भाँति लगा रहता हो। अन्तःपुर में जिसकी स्त्रियों के बीच से कहीं भी कभी भी रोक टोक न रही हो, जो अपने हाथ से स्वामी को स्नान कराता हो, क्रीड़ा में जो सदा स्वामी को मनोविनोद कराता हो, स्वामी जिसे सदा समीप बिठाकर साथ-साथ भोजन करते हों, स्वामी का जिस पर अपार प्यार हो और सेवक भी उन्हें ही अपनी गति मति समझता हो। हे देव ! ऐसा सेवक कभी भी क्या अपने सच्चे स्वामी का परित्याग कर सकता है ? प्रभो ! मैं आपका क्षुद्रातिक्षुद्र दास हूँ, सेवक हूँ, शिष्य हूँ, भक्त हूँ, अनुरक्त हूँ। आप हमारे स्वामी हैं, भगवान् हैं, सुहृद हैं, सम्बन्धी हैं, और आत्मा हैं। अब आप ही न्याय करें कि आपके बिना मेरा इस धरा धाम पर रहना कैसे सम्भव हो सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया उद्धव ! संसार सागर से पार होना बड़ा कठिन काम है। यह मेरी माया बड़ी दुस्तर है। जब तक मेरी माया नहीं जीती जाती तब तक मेरे धाम में प्रवेश करना कठिन काम है।"

यह सुनकर आँसू पोंछते हुए दृढ़ता के स्वर में उद्धवजी बोले—"प्रभो ! भक्तों का माया क्या बिगाड़ सकती है। जिन्होंने आपके चरणों का आश्रय ले लिया है, उनके पास तो माया फटक भी नहीं सकती, दूर खड़ी-खड़ी देखती रहती है। हमारे पास तो ऐसा कवच है, ऐसा ब्रह्मास्त्र है कि माया का हमारे पास आने का साहस भी नहीं होता।"

हँसकर भगवान् बोले—"वह कौन सा कवच है, क्या ब्रह्मास्त्र है, हम भी तो सुनें।"

उद्धवजी बोले—"महाराज ! भक्तवृन्द आपके कंठों में माला पहिनाते हैं। वह माला आपके हृदय से स्पर्श होती है, कुछ देर

आप उसे धारण करते हैं, फिर उतारकर आप उसे हमें दे देते हैं। उस आपकी भोगी हुई माला को हम अपने कंठ में श्रद्धा सहित धारण करते हैं, उसके पहिनने से हमारे समस्त अशुभ नष्ट हो जाते हैं। उस माला को हमारे कण्ठ में देखकर माया हमारी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती। आप चन्दन लगाते हैं, उस अवशिष्ट चन्दन को हम सर्वाङ्ग में लेपन करते हैं, उसकी गन्ध पाते ही माया मुट्ठी बाँधकर भाग जाती है। आपके पहिने हुए प्रसादी वस्त्रों को हम प्रेमपूर्वक पहिनते हैं, फिर राँड माया हमारे पास कैसे आ सकती है। आप प्रसाद पाते हैं, पाते-पाते अपने अधरामृत से सिक्थ उस सीथ प्रसादी को छोड़ देते हैं। वह उच्छिष्ट प्रसाद हमें मिलता है। उस प्रसाद के पाने पर भी क्या पापों का अस्तित्व रह सकेगा? उसे पाने पर भी क्या माया हमें भुला सकेगी? नहीं, नहीं नाथ! हमें माया से कुछ भी भय नहीं। आपकी प्रसादी, माला, चन्दन, वस्त्र, अलंकार, उच्छिष्ट भोजन आदि वस्तुओं को पाकर हम आपके दास आपकी इस दुस्तर माया को हँसते-हँसते तर जायँगे, सुख पूर्वक इसे जीत लेंगे।"

इस पर भगवान् बोले—"अरे भैया! मेरे पद का नाम है ब्रह्मपद। वह बिना तप के प्राप्त नहीं होता। यह छुरे के धार के समान है, बड़ा दुर्गम है। इसे तो संसारत्यागी, वीतरागी, अध्यात्मविद्या में श्रम करने वाले परम तपस्वी ही प्राप्त कर सकते हैं।"

इस पर उद्धवजी बोले—"हाँ भगवन्! यह सत्य है कि सम्राट् का दर्शन सभी को सब समय सुगमता से प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु जो उनके निजी सेवक हैं, उन्हें दर्शनों के लिये श्रम नहीं करना पड़ता। उन्हें तो अनायास ही दर्शन प्राप्त होते रहते हैं। इसी प्रकार यह सत्य है कि ब्रह्मपद प्राप्ति के लिये बड़े-

बड़े ऊर्ध्वरेता त्यागी, तपस्वी वायु भक्षण करके घोर तप करते हैं, तथा अध्यात्मविद्या में निरन्तर श्रम करते रहते हैं, तब कहीं चिरकाल में जाकर उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है। ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले निर्मल चित्त के शान्त सन्यासी ही आपके ब्रह्मपद को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सर्वेश्वर ! हम आपके निजी भृत्य हैं। हमें क्रिया कलापों को त्यागकर वन में जाने की आवश्यकता न पड़ेगी। न हम कपड़े रँगेंगे, न कोई विशेष वेष बनावेंगे, हम तो केवल आपके अनन्य भक्तों का सग करेंगे। उनके साथ मे बैठकर भागवती, कथाओं का नित्य नियम के साथ श्रवण किया करेंगे। आपकी लीलाओं को अपने कर्णकुहरों में श्रद्धा अश्रद्धा इच्छा अनिच्छा से भरते रहेंगे। आपने नर-शरीर धारण करके जो चरित्र किये हैं उनका चिन्तन किया करेंगे। आप अपने अनुरक्त भक्तों के साथ कैसे हँस हँसकर बोलते थे, कैसे ठठाका मारकर हँसते थे, कैसे बातें करते थे, कैसे ललित गति से चलते थे, अपने जनों को कैसे देखते थे, कैसे मन्द मन्द मुसकराते थे, किस प्रकार मीठी-मीठी हँसी विनोद की बातें किया करते थे। माया मानव रूप रखकर आप जो जो भी चेष्टायें करते रहे हैं उनकी ही हम परस्पर में चर्चा किया करेंगे। उनके ही गीत गावेंगे, उन्हीं का स्मरण करेंगे, उन्हीं गुणों का तथा सुमधुर-नामों का कीर्तन करेंगे। इन्हीं सब कर्मों को करते हुए भी आपकी दुस्तर माया को पार कर लेंगे। हम आपके भक्तों का सग मिले और भागवती कथाओं के श्रवण का अवसर मिले, तो फिर हमे माया से तनिक भी भय नहीं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अपने अत्यन्त प्रिय अनुरक्त भक्त उद्धवजी के मुख से जब भगवान् ने ऐसी दृढता की बात सुनी और उनका साथ चलने का अत्यन्त आग्रह देखा, तो

भगवान् उन्हें सान्त्वना प्रदान करते हुए उपदेश देने लगे। अब भगवान् जिस प्रकार उद्धवजी को उपदेश देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बोले—हे विश्वेश ! आपकी इच्छा जानी।
तजि पृथिवी निजलोक गमन की मन महँ ठानी॥
रहूँ तुम्हारे बिना नाथ ! नहिँ जगके पाहीं।
तजौ न मोकूँ देव ! संग लै चलौ गुसाईं॥
प्रभु-प्रसाद पट, गंध, स्रक्, सिर धरि कीर्तन करिहैं।
तव चरितनि चिन्तन करत, दुस्तर माया तरिहैं॥

भगवान् का उद्धवजी को संन्यास धर्म का उपदेश

[१२१६]

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

उद्धव की सुनि विनय विहँसि बोले बनवारी ।
हाँ, मैंने निज लोक गमन की करी तयारी ॥
यदुकुल होवे नाश परम अब होहि तिरोहित ।
तुम तजिकें सब मोह जाउ बदरीवन तपहित ॥
जो मन इन्द्रिय विषय हैं, मायामय सब मानि कें ।
त्यागो गुन अरु दोष भ्रम, आत्मरूप जग जानि कें ॥

जब तक देह-गेह में प्रबल आसक्ति है, तब तक ब्रह्म, माया की बातें करना केवल मनोविनोद का, आजीविका तथा प्रतिष्ठा सम्पादन करने का साधन मात्र है। मुमुक्षुता की प्रथम सोपान

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! भगवान श्रीकृष्णचन्द्र श्रीउद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अब तुम अपने स्वजन बन्धु बान्धवों का सम्पूर्ण स्नेह छोड़कर मन को मुझमें ही लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए पृथ्वी पर आनन्द से विचरण करो, परिव्राट बन जाओ।"

है त्याग की भावना। जब तक यह संसार अच्छा लगता है, जब तक घर सजाने की, स्वच्छ वस्त्र पहिनने की, धनिकों से मिलने की, कुटुम्बियों के सुख-दुःख की तथा इन्द्रिय जन्य विषयों को भोगने की वासनायें बनी हुई हैं तब तक न वह ज्ञान का अधिकारी है न भक्ति का। ज्ञान का भक्ति का मार्ग एक ही है। एक ही स्थान से चलते हैं एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। केवल मार्ग दो हैं—एक मार्ग छायादार सुन्दर नरम है, दूसरा कृपाण की धार के समान है। दोनों का पर्यवसान भी एक ही स्थान पर है। भिन्न-भिन्न प्रकृति होने से साधन में भिन्नता हो जाती है। साध्य एक है। जैसे बुभुक्षा को दूर करना लक्ष्य है। भिन्न भिन्न प्रकृति के कई आदमी हैं सबके सम्मुख आटा, दाल, घी, चीनी, ये सब वस्तुएँ रख दीं। एक ने तो दाल को भिगो दिया, उसे पीसकर आटे में मिला लिया। मोटे-मोटे टिक्कड नमकीन सेंक लिये, खाकर पेट भर लिया। किसी ने आटे को भूनकर उसके सत्तू से बनाकर घी, चीनी मिलाकर निगल लिया। किसी ने घी में आटे को भूनकर हलुआ बना लिया। किसी ने इन्हीं वस्तुओं की पूड़ी, कचौड़ी, बड़े, हलुआ ये नाना प्रकार की वस्तुएँ बनायीं और अत्यन्त स्वाद के साथ रुचि पूर्वक खायीं। आग सब को जलानी पड़ी, पेट सबका भरा, केवल पेट भरने की वस्तुओं में बाहरी भिन्नता सी हो गयी। जो भी पदार्थ बने सब इन्हीं वस्तुओं के बने। बनने में भिन्नता हुई। इसी प्रकार भगवान एक हैं, उन्हें चाहे ब्रह्म कहो, परमात्मा कहो, भगवान् कहो, राम, कृष्ण, नृसिंह, गणेश, शिव, सूर्य अथवा निराकार साकार कुछ भी कह लो, लक्ष्य वे ही हैं। उन्हें पाने के लिये संसार से वैराग्य होना सभी साधनों में आवश्यक है। हाँ, रुचि वैचित्र्य के कारण उपकरणों में कुछ अन्तर पड जाता है। कोई सरस प्रकृति का होता है कोई नीरस प्रकृति का। कोई भाव-प्रधान होता है कोई विचार

प्रधान। जब तक देह और तत्सम्बन्धी घर द्वार, कुटुम्ब परिवार, स्त्री बच्चे और सम्बन्धियों से विराग नहीं होता तब तक वह मुमुक्षुता का अधिकारी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब उद्धवजी ने एकान्त में आकर प्रेमपूर्वक प्रभु के पादपद्मों में प्रार्थना की और जिज्ञासा की, कि क्या भगवन् ! आप इस धराधाम को त्यागकर स्वधाम पधारना चाहते हैं, तो गम्भीरता पूर्वक प्रसन्न होकर प्रभु बोले—"महाभाग उद्धव ! तुम्हारा अनुमान यथार्थ है। हाँ, अब मैं इस इतने बढ़े हुए यदुकुल का संहार करना चाहता हूँ। महाभाग ! मैं जो भी करता हूँ, केवल खेल के लिये करता हूँ, मेरी किसी में आसक्ति नहीं। देखो, इतने दिन व्रज में रहा, एक दिन में सबको छोड़कर चला आया। इतनी समृद्धि शालिनी मथुरापुरी को मैं बटाऊ के घर की भाँति छोड़कर चला आया। इस द्वारकापुरी को मैंने कितनी सुन्दरता के साथ बनाया था, अब इसे भी उजाड़ कर मैं चला जाऊँगा। बनाना बिगाड़ना यही खेल है। बच्चे बालू में घर द्वार बनाते हैं, चिकनी मिट्टी के हाथी घोड़े बनाते हैं, फिर बिगाड़ देते हैं। इसी का नाम खेल है। जो इस खेल में सत्य बुद्धि रखता है उसे रोना पड़ता है। अब मैं इस खेल को समाप्त करना चाहता हूँ।"

दीनता के स्वर में उद्धवजी ने कहा—"अजी महाराज ! आपसे ही इस भूमण्डल की शोभा है, आप साकार रूप से जब तब इस अवनि पर विराजमान रहेंगे, तब तक यह परम सौभाग्य वती बनी रहेगी। कृपा करके कुछ काल तक और निवास करें।"

भगवान् बोले—"उद्धवजी ! अन्तर्यामी रूप से तो मैं सब में हूँ ही। किन्तु समस्त लोकपाल, शिवजी, ब्रह्माजी, तथा अन्यान्य

देव उपदेव मेरे समीप आये थे। वे सब चाहते हैं मैं अब गोलोक में गमन करूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! ये सब कब आये थे, मैंने तो इन सबको आते देखा नहीं। मैं तो आपके चरणों से क्षण भर के लिये भी पृथक नहीं होता।"

भगवान् बोले—"उद्धवजी! वे लोग सब गुप्त रूप से आये थे। मैंने बलदेवजी के सहित अवतार भी उनकी ही प्रार्थना पर लिया था, अब जब सब देव कार्य समाप्त हो गया, भूमि का भार उतर गया, तो मैंने देवताओं की स्वधाम गमन की प्रार्थना भी स्वीकार कर ली।"

विकलता के स्वर में उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! आपके बिना यदुकुल की रक्षा कौन करेगा।"

भगवान् अत्यन्त ही ममता भरी वाणी में बोले—"उद्धव! मैं तुम्हें बार-बार यही तो बता रहा हूँ भैया! यह मेरा खेल है। यदुकुल को तो विप्रों का शाप लग चुका है। जैसे जिस लकड़ी में भीतर ही भीतर घुन लग जाता है, तो ऊपर से तो उसका ढाँचा अच्छा दिखायी देता है, किन्तु भीतर कुछ तत्व नहीं रहता। इसी प्रकार यदुकुल में अब कुछ सार नहीं रह गया। विप्र शाप से यह श्रीहीन हो गया है, जल गया है, ऊपर ढाँचा-ही ढांचा शेष है, यह भी अब नष्ट हो जायगा। यदुवंशियों को दूसरा तो कोई मार नहीं सकता। आपस में ही ये सब मर जायँगे। द्वारका पुरी भी न रहेगी।"

चौंककर उद्धवजी ने कहा—"द्वारका कहाँ चली जायेगी महाराज?"

भगवान् बोले—"इसकी रचना तो मैंने क्रीडा के निमित्त की थी। जब मैं ही स्वधाम चला जाऊँगा, तो यह पुरी रहकर क्या करेगी, इसे समुद्र डुबो देगा।"

उद्धवजी भौचक्के से होकर पूछने लगे—"द्वारकापुरी को समुद्र कब डुबोवेगा प्रभो !"

भगवान् बोले—"आज के सातवें दिन द्वारका समुद्र में डूब जायगी। मैं भी स्वधाम चला जाऊँगा। जिस दिन मैं पृथ्वी का परित्याग करूँगा, उसी दिन कलियुग का प्रवेश हो जायेगा। मेरे कारण जो चारों ओर मङ्गल ही मङ्गल दिखायी देते हैं, वे सब नष्ट हो जायेंगे। कलियुगी जीव मङ्गलहीन होंगे। कलियुग से अभिभूत हुई यह अवनि श्रीहीन हो जायगी। जब मैं स्वधाम चला जाऊँ, तो तुमको भी द्वारकापुरी में न रहना चाहिये।"

रोते-रोते उद्धवजी बोले—'प्रभो ! आप ऐसी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं ? इस अपने दीन-हीन सेवक का परित्याग क्यों कर रहे हैं ? नाथ ! मुझे भी अपने साथ-ही-साथ लेते चलें। मुझे कलियुग के तापों से तपाने के लिये आप क्यों छोड़ना चाहते हैं ?"

स्नेह पूर्वक उद्धवजी के कर को अपने करकमल से दबाते हुए दुलार के साथ यदुनन्दन बोले—"उद्धव भैया ! तुम्हें अभी यहाँ कुछ दिन और रहना होगा। यह सत्य है कि कलियुग में सबकी रुचि अधर्म में ही होगी। पाप करने में कलियुगी प्रजा को कुछ भी दुःख न होगा, किन्तु तुम्हारे जैसे भगवद्भक्त का कलियुग कर ही क्या सकता है। तुम अपने बन्धु-बान्धव तथा परिवार वालों की सम्पूर्ण ममता को त्याग कर, मुझमें ही मन लगाकर तथा सर्वत्र समदृष्टि रखकर इस पृथ्वी पर स्वच्छन्द होकर विचरण करते रहना। तुम तो मेरे भक्त हो, तुम्हें संसारी माया बाधा नहीं दे सकती। फिर भी मेरी माया से बचे रहना।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मैं तो आपको ही जानता हूँ, मैं तो सदा आपके चरणों को ही निहारता रहा हूँ, माया को तो

मैंने देखा भी नहीं कि वह काली है या गोरी। उससे मेरा परिचय भी नहीं हुआ।"

भगवान् बोले—"हाँ, तो देखो मेरी माया का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। यह माया ऐसे धीरे-धीरे आती है कि बड़े

त्यागी विरागी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। इसे मनुष्यों को गिराने में कुछ श्रम ही नहीं लगता। योगारूढ़ पुरुष भी कभी-कभी माया के चक्कर में फँस जाते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! आप जब तक मेरे सम्मुख रहते हैं। तब तक तो मुझे कोई भय ही नहीं था। अब जब आप मुझे बिलखता हुआ छोड़ना ही चाहते हैं, तो उस माया का रूप रंग मुझे समझा दीजिये। उसका परिचय करा दीजिये। कभी मेरे सामने वह कलमुँही आ गयी तो मैं उससे बच तो जाऊँ।"

भगवान बोले—"उद्धव ! भगवन्नाम के अतिरिक्त जो भी कुछ तुम संसार में देखते हो, भगवन्नाम के अतिरिक्त जो भी तुम कुछ वाणी से बोलते हो, भगवान् के रूप के अतिरिक्त मन से जो भी तुम कुछ मनन करते हो, वह सब नाशवान् है, क्षणभंगुर है, परिवर्तनशील है। एक मैं ही अविनाशी हूँ। जहाँ तक मन और इन्द्रियों की पहुँच है वह सब मनोमय है, यही माया है।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! हम जो भी सब देखते सुनते और मनन करते हैं, वह माया ही है। तब अच्छा क्या, बुरा क्या ? ग्राह्य क्या, त्याज्य क्या ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे भैया ! उद्धव ! यह गुण है, यह दोष है, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह द्वैधा भाव ही तो भ्रम है। जब यह गुण-दोषमयी बुद्धि हो जाती है, तभी तो यह कर्म है, यह अकर्म है, यह विकर्म है, ऐसा भेद-भाव हो जाता है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! संसार में भेदभाव तो प्रत्यक्ष ही दीख रहा है। सेब सुन्दर होता है, इसके विपरीत हिंगोटा कड़वा होता है। कोई सुन्दर स्वरूपी होता है, कोई कुरूपी होता है। संसार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं जिसमें समता हो, कुछ-न-कुछ भेद भाव सबमें है। फिर यह भेद-भाव दूर कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"भैया, यह भेद-भाव भ्रम से है। अब तुम विचार करो, सबकी देह में रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद, शुक्र और ओज एक ही हैं। जितने पदार्थ हैं सब पञ्चभूतों के बने हैं। मिट्टी के सकोरे, घड़े, नाद, चिलम कुछ बनालो, सबमें एक मृत्तिका है। तुम चित्त का और इन्द्रियों का संयम करके इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मा में देखो। यह सम्पूर्ण पसारा आत्मा में ही है। जैसे पुष्पों में रंग नहीं है रंग तो सूर्य में है। सूर्य के अभाव में सब एक ही रंग के हो जाते हैं इसी प्रकार इन पदार्थों

में भेदभाव नहीं। हम आत्मा से इनमें भेदभाव स्थापित कर लेते हैं। सबको तुम आत्मा में देखो और अपने व्यापक आत्मा को मुझ परमात्मा में देखो, फिर न माया रहेगी न भेद। जैसे कटक कुण्डलों को सुवर्ण में देखो और इस सुवर्ण को पृथ्वी में देखो। क्योंकि सुवर्ण भी तो एक प्रकार का तेज वाला मिट्टी ही है, तब फिर काञ्चन और लोष्ट में कोई भेद ही न रहेगा। आत्मा में सबको देखने का नाम ज्ञान है, और आत्मा को परमात्मा में देखने का नाम विज्ञान है। जहाँ तुम ज्ञान विज्ञान से युक्त हुए कि फिर तुम समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप हो जाओगे। तब तुम्हें अनुभव होने लगेगा, कि मैं ही अनेक रूपों में सब चेष्टायें कर रहा हूँ। जहाँ तुम्हें आत्मा का अनुभव हुआ तहाँ विघ्नों का अत्यन्ताभाव अपने ही आप हो जायगा। फिर तुम कभी भी विघ्न से बाधित हो ही नहीं सकते। तुम्हारे लिये फिर कर्तव्य, अकर्तव्य, ग्राह्य, त्याज्य, विधि, निषेध कुछ भी न रह जायगा। जो ज्ञान विज्ञान से युक्त है, जो सर्वभूतों में अपनी आत्मा को देखता है, अपने में सबको देखता है, उसके लिये विधि निषेध का बन्धन ही नहीं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! क्या कर्मों का त्याग कर दें ?"

हँसकर भगवान् बोले—"हाँ भैया, कर्मों का त्याग करके सन्यास ले लेना चाहिये। त्याग के बिना शान्ति नहीं। एक त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। ज्ञानी पुरुष न तो गुण बुद्धि से विहित कर्मों का अनुष्ठान ही करता है और न दोषदृष्टि से निषिद्ध का परित्याग ही करता है। वह बालक की भाँति हो जाता है, जो सम्मुख आया मुख में रख लिया, जिसे देखा उस ही छू लिया। उसके मन में यह छूना चाहिये यह नहीं। इसका त्याग करना ही चाहिये, इसको ग्रहण करना चाहिये ऐसा आग्रह नहीं होता। वह हँसता है, सबसे प्यार करता है, वह

प्राणीमात्र का सुहृद होता है, सबका कल्याण चाहता है, उसका चित्त सदा शान्त बना रहता है, सुमेरु के समान वह ज्ञान-विज्ञान में अटल बना रहता है। उसका निश्चय दृढ़ होता है, उसकी निष्ठा को कोई नष्ट नहीं कर सकता। उसे किसी घटना से उद्वेग नहीं, सब उसे देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। वह संसार को मेरा ही स्वरूप मानकर सदा कमल की भाँति खिला रहता है। विपत्ति उसके पास फटकने भी नहीं पाती, चिन्ता उसकी ओर दृष्टि उठाकर देखती भी नहीं। इसलिये संसार की ओर से मुँह मोड़ लो। संन्यासी बन जाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने उद्धवजी को संन्यास-रूप कर्म-त्याग का उपदेश दिया, तब उद्धवजी ने संसारी लोगों के ऊपर कृपा करके इस त्याग-धर्म का विस्तार के साथ जानने की जिज्ञासा की। उद्धवजी ने जैसे प्रश्न किया और भगवान् ने जैसे उसका उत्तर दिया, इस कथा-प्रसङ्ग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

आत्मा अद्वय अजर अमर व्यापक सब थल में।
जगमहँ एक समान रहे रवि शशि नभ जल में॥
जाकूँ ऐसो ज्ञान न सो जगमहँ दुख पावे।
दृश्य चराचर माहिँ सबनि महँ ब्रह्म लखावे॥
ज्ञानी बालक के सरिस, भेदभाव तें रहित है।
नहिं सोंचे वह स्वप्न में, यह अविहित यह विहित है॥

संन्यास धर्म की विस्तृत व्याख्या की जिज्ञासा

[१२२०]

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहम्,
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

करम त्याग सन्यास धरम सुनि बोले उद्धव।
विषय गहन हीं अज्ञ सरलता तें कहु केशव॥
काकी जाऊँ शरन आप सम और न पाऊँ।
आयो तुमरी शरन चरन महँ शीश नवाऊँ॥
उद्धव की सुनि कें विनय, बोले प्रभु परमातमा।
उपदेशक, गुरु, सुहृद्, रिपु, है अपनी ही आतमा॥

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! श्री उद्धवजी भगवान् से विनय कर रहे हैं—"हे प्रभो! मैं भक्तिहीन हूँ, मूढमति हूँ, मैं-मेरी में फंसा हूँ तथा आपकी माया से विरचित देह गेह तथा कुटुम्बियों के बन्धन में बँधा हूँ। हे भगवन्! आपने जिस संन्यास धर्म का संक्षेप में वर्णन किया उसे इस दास को इस प्रकार सुगमता से उपदेश कीजिये, जिससे मैं उसका साधन कर सकूँ।"

बुद्धिमानों के लिए बात सूत्ररूप मे कही जाती है, क्योंकि बुद्धिमानों के लिये संकेत ही पर्याप्त होता है। वे अपनी कुशाग्र बुद्धि से बात का स्वयं विस्तार कर लेते हैं, किन्तु सर्वसाधारण सूत्रों को नहीं समझ सकते, अत: उन सूत्रों की व्याख्या करके भाष्य बनाकर समझाया जाता है। भाष्य तथा व्याख्या में बातें वही रहती हैं जो सूत्र में कही गया हैं, किन्तु सूत्र उसे सब पचा नहीं सकते। जैसे भाँग का गोला। जिसे भाँग पीने का अभ्यास नहीं है वह भाँग के गोले को खा ले तो मूर्छित हो जायगा। जिसमें पचाने की सामर्थ्य हैं, दीर्घ काल का अभ्यास है वह गोले को सुगमता से निगल जायगा। सर्वसाधारण के लिये तो उसी गोले को जल में घोलते हैं, उसमे दूध चीनी मिलाते हैं तब चुल्लू चुल्लू देते हैं। वह पीने में भी स्वादिष्ट लगती है और उसका जो फल होना चाहिए वह भी होता है। इसी प्रकार सूत्र रूप से कहे गये ज्ञान को विस्तार से कहा जाय, तो उससे सर्वसाधारण लोगों का भी उपकार हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने उद्धवजी को संक्षेप में त्याग धर्म का उपदेश दिया, तब उद्धवजी उसको विस्तार के साथ सुनने की इच्छा से अत्यन्त नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् से कहने लगे—"प्रभो ! जितने भी संसार में योग हैं आप उन सबके ईश्वर हो। इसीलिये सब आपको योगेश्वर कहते हैं। योगवेत्ता जिसे बार बार सारातिसार गुह्य कहते हैं वह अन्य कोई वस्तु नहीं है आप ही उनकी परम गुह्य निधि हो। जिस योग के द्वारा योगी आप तक पहुँचते हैं वह योग भी अन्य कुछ नहीं आप ही योग स्वरूप हो। आप ही साधन हो। आप योग के उत्पत्ति स्थान हैं, ऐसे हे सर्वज्ञ ! हे सर्वमय ! आपने मेरे कल्याण के लिये—मोक्ष के लिये—परम पद की प्राप्ति के लिये—जो सन्यास रूप कर्म त्याग का उपदेश दिया, वह मुझ

जैसे अज्ञानी के लिये दुःसाध्य है ।"

भगवान् ने कहा—"दुःसाध्य क्यों है भैया ! संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जो साध्य न हो । सभी तो साध्य है ।"

शीघ्रता के साथ उद्धवजी ने कहा—"नहीं महाराज ! मेरा यह अभिप्राय नहीं है, कि सबके लिये दुःसाध्य है । जो वीतराग सन्यासी हैं, परिव्राजक हैं, उनके लिये तो सब कुछ साध्य है । किन्तु, हे सर्वात्मन् ! मुझ जैसे विषय लोलुप के लिये तो कामनाओं का त्याग अत्यन्त ही कठिन है । आप ही सोचें, रसगुल्ला को देखते ही जिह्वा से पानी टपक रहा है, उसके प्राप्त होने की आशा भी है, फिर उसका परित्याग कैसे हो सकता है ? भगवन् ! इन्द्रियों की स्वभाविकी प्रवृत्ति विषयों में है, वे सम्मुख आ जाती हैं तो हृदय में एक प्रकार की उथल-पुथल मच जाती है, शाब्दिक ज्ञान उस समय कुछ भी ज्ञान नहीं देता । मन की विचित्र दशा हो जाती है, इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि रोकने से भी नहीं रुकती । ऐसी तो हम लोगों की दशा है, जिस पर आप हमें कर्मत्याग का उपदेश देते हैं । यदि हम करें भी तो मन को तो रोक न सकेंगे, त्यागी का वेष बना लेंगे तो यह तो और भी बड़ा भारी पतन है, ढोंग है, दम्भ है, लोगों को ठगना है, अपनी आत्मा को गिराना है । यदि भगवान् की भक्ति हुई और फिर ऐसी दशा हुई, तब तो कुछ आशा भी है । भगवान् के प्रति कुछ अनुराग हो, हृदय में कुछ सरसता हो, उनसे पाप बन जाय, तो वे रोते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, पछताते हैं, प्रभु से प्रार्थना करते हैं । इस प्रकार पछताते पछताते उनका चित्त कभी न कभी शुद्ध बन जाता होगा, कभी-न-कभी आप उनकी प्रार्थना सुन लेते होंगे । किन्तु जो आपके भक्त नहीं हैं, नीरस प्रकृति के शुष्क हृदय के हैं, वे त्याग की दीक्षा लेलें, तो उनका मन तो विषयों की ओर जायगा ही । वे मन को रोक

नहीं सकते, क्योंकि संसार में सबसे अधिक बलवती आपकी माया है। वैसे तो स्त्री को अबला कहा है, किन्तु यह आपकी मायारूपी स्त्री बड़ी सबला है। बड़े बड़ों को बात-की-बात में पछाड़ देती है, चारों कोने चित्त पटक देती हैं, इससे पार होना कठिन ही नहीं, मुझे तो असंभव-सा दीखता है।"

भगवान् ने बल देकर कहा—"असंभव क्यों बताते हो भाई! बहुत से लोग मेरी माया को तर गये हैं केवल त्यागधर्म की ही दीक्षा लेकर।"

नम्रता के साथ उद्धवजी ने कहा—"तर गये होंगे महाराज! इस पर मैं अविश्वास नहीं करता, किन्तु मैं तो अपने ऊपर देखता हूँ कि संसार में मेरा कैसा आकर्षण है। मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, मैं सुन्दर हूँ, स्वरूपवान् हूँ, मैं युवक हूँ, बली हूँ विद्वान् हूँ, ज्येष्ठ हूँ, श्रेष्ठ हूँ इस प्रकार की अहंता में मैं सदा मग्न रहता हूँ। यह मेरा घर है, ये मेरे पशु-पक्षी, भाई, बन्धु इष्ट, मित्र सगे सम्बन्धी तथा भृत्य हैं इस प्रकार की ममता मेरी नस-नस में भरी है। ये मेरे हैं, ये पराये हैं, ऐसा मिथ्याभिनिवेस मेरा छूटा नहीं है। अहंता ममता के कारण मेरी मति मूढ़-सी बन गयी है। मोहसागर में मैं मग्न हो रहा हूँ। ऐसे मुझ विषय लोलुप के लिये इतना कह देना पर्याप्त नहीं है, कि "तुम सब कुछ छोड़कर मेरी ही शरण मे आ जाओ।" कैसे आपकी शरण में आऊँ? कैसे इन कामनापूर्ण कर्मों का त्याग करूँ इन बातों को विस्तार के साथ बतावें। बार-बार दृष्टान्त दे दे कर समझावें। तब कहीं मैं समझ सकता हूँ। आप समझते होंगे। जैसे ऋषियो को संकेत कर दिया वे तुरन्त समझ गये। महाराज! आज आपका मूढ़ से पाला पड़ा है। दास को व्याख्या करके बताइये।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे भैया! ये प्रश्न

किसी उपदेशक से पूछो। मुझे तो व्याख्यान देने का अभ्यास नहीं है।"

दीनता के स्वर में उद्धव जी ने कहा—"प्रभो! आप मुझे भुलावे में क्यों डालना चाहते हैं। ये माया से मोहित उपदेशक क्या उपदेश देंगे? जब बड़े-बड़े ब्रह्मादि देव भी आपकी माया से मोहित होकर इन नाशवान् तुच्छ क्षणिक मायिक विषयों को ही सत्य मानकर व्यवहार कर रहे हैं, तो ये उपदेश क्या देंगे, उनके उपदेश का प्रभाव ही क्या पड़ेगा। बहुत से लोग बड़े-बड़े पोथे लिखते हैं मान प्रतिष्ठा और धन कमाने के लिये। उन पुस्तकों को पढ़कर किसे शान्ति मिल सकती है। जिस धन-प्रतिष्ठा के लिये लिखते हैं उसी से तो संसारी लोग अशान्त हैं। बहुत से लोग रात दिन उपदेश देते रहते हैं, किस लिये? हमारा नाम हो, कोई धनिक फँसे, गाढ़ा-गाढ़ा गोपीचन्दन विपुल मात्रा मे मिले। उन उपदेशों से किनका कल्याण हो सकता है? यह तो एक लोक व्यवहार है। ससार में सच्चे उपदेशक तो आप ही हैं। आप में दम्भ नहीं, छल नहीं, कपट नहीं, माया नहीं। आप माया से परे हैं, सत्य स्वरूप हैं, स्वयं प्रकाश हैं, परमात्मा हैं। आप से बढ़कर उपदेशक तो मुझे मनुष्यों में क्या देवताओं में भी नहीं मिल सकता। मैं नाना प्रकार की आपत्तियों से संतप्त हो रहा हूँ, मुझे शान्ति नहीं, सुख नहीं, कोई सरल सुगम साधन सूझता नहीं। मैं मलिनमति हूँ, आप निर्मल हैं, आप अनन्त हैं, अपार हैं, सर्वज्ञ हैं, ईश्वर हैं, तथा उस वैकुण्ठ धाम में सदा निवास करते हैं जहाँ काल की पहुँच नहीं। जहाँ भूत, भविष्य वर्तमान का भेद भाव नहीं। जो नित्य शाश्वत और सनातन धाम है। आप नर के सखा नारायण हैं, आत्मा से परे परमात्मा हैं, आप सच्चिदानन्द हैं। मैं कैसे संसार से पार होऊँ, किसकी शरण जाऊँ, किसे गुरु बनाऊँ? कृपा करके इन बातों को मुझे बतावें।"

उद्धवजी की ऐसी विनय सुनकर भगवान् वासुदेव बोले—"उद्धव ! सबसे बड़ा गुरु तो अपनी आत्मा ही है। शास्त्र ही गुरु है, शास्त्र के द्वारा ज्ञान लाभ करके मनुष्य भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन ! शास्त्र एक तो हैं नहीं, अनन्त शास्त्र हैं, विद्या भी बहुत प्रकार की हैं, किस शास्त्र को पढ़े। वैद्यक शास्त्र कहता है-धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का मूल कारण आरोग्य ही है। स्मृति शास्त्र कहते हैं-धर्माचरण से ही इष्ट की प्राप्ति होती है। सांख्य शास्त्र कहता है-छब्बीस तत्त्वों के ज्ञान से ही मुक्ति होती है। योग शास्त्र कहता है-चित्त की वृत्ति को निरोध करके स्वरूप में स्थिति होने से मुक्ति होती है। मीमांसा शास्त्र कहता है-यज्ञादिक कर्म करने से ही मुक्ति होती है। न्याय शास्त्र कहता है-परमाणु के ज्ञान से मुक्ति होती है। काम शास्त्र वाले कहते हैं-काम के सेवन से मुक्ति होती है। कुन्डलिनी योग वाले कहते हैं-स्वाधिष्ठान में सोई हुई कुन्डलिनी सुषुम्ना को भेदकर सहस्र दल कमल में जब जाती है तब ज्ञान होता है और उस कुन्डलिनी के सहस्रार में पहुँचने पर ही मुक्ति होती है। कोई कहते हैं-अद्वैत निष्ठा से मुक्ति होती हैं। कोई कहते हैं, मुक्ति से भक्ति बड़ी है। भगवान् मुक्ति तो सुगमता से दे देते हैं, किन्तु भक्ति देने में कृपणता करते हैं। भक्ति के भी असंख्यों भेद हैं, किस शास्त्र को माने, किस शास्त्र को पढ़े ? इतना समय भी नहीं। आयु भी कम है, फिर पर अनेकों दैहिक, दैविक, भौतिक संताप हैं। चित्त में सदा अशुभ वासनायें उठती रहती हैं। भगवान् का कितना भी ध्यान करो, नहीं होता, विषयों को जितना ही भुलाना चाहते हैं उतनी ही उनकी स्मृति और भी अधिक आती है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! ताड़पत्रों

पर, कागदों पर लिखे हुए शास्त्र ही शास्त्र नहीं है, उनका पठन-पाठन ही यथार्थ पठन-पाठन नहीं है। सबसे बड़ा शास्त्र तो संसार है। संसार की प्रत्येक घटना देखे, उस पर विचार करे, गंभीरता के साथ मनन करे। जो संसार तत्व का निरन्तर आलोचन करते रहते हैं, उन लोगों को प्रायः अन्य किसी भी गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अपने आप स्वयं ही अपने चित्त को अशुभ वासनाओं को मेंट लेते हैं। वे अपना उद्धार इस संसार को पढ़ कर स्वयं ही कर लेते हैं।"

उद्धवजी ने कहा--"महाराज! गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता, गुरु बनाना तो अन्यन्त आवश्यक है।"

हँसकर भगवान् बोले—"गुरु करना थोड़ा ही होता है, गुरु तो अपने भीतर बैठा है। आत्मा तो गुरुओं का भी गुरु है। अच्छा मैं तुमसे एक प्रश्न पूछता हूँ। एक तो परीक्षा देने वाला है और एक परीक्षा लेने वाला परीक्षक है। इन दोनों में से कौन बड़ा है ?"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! परीक्षा देने वाले से तो परीक्षक ही बड़ा है।"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"अच्छा, तो विचारो परीक्षा तो अपनी आत्मा ही लेती है न ? किसी साधक की किसी सन्त पर श्रद्धा है। वह सन्त जिसे श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, साधक की उस पर श्रद्धा नहीं होती। कोई पूछता है—"आप उन पर उतनी श्रद्धा नहीं करते।" तो वह तुरन्त कह देता—"उन पर मेरी श्रद्धा जमती नहीं। मेरी अन्तरात्मा स्वीकार नहीं करती।" इससे वे सन्त बड़े हुए या अन्तरात्मा ? बड़े-बड़े विद्वान्, योगी, प्रतिष्ठित, ज्ञानी साधु-संत बैठे हैं। कोई साधक आता है, सबको देखता है, सबको प्रणाम करता है, उनमें किसी साधारण को गुरु बना लेता है। दूसरे पूछते हैं—"इतने बड़े ज्ञानी विद्वान् को

छोड़कर तुमने इन साधारण को गुरु क्यों बनाया ?" तो वह कहता है—"मेरी अन्तरात्मा इन्हीं से सन्तुष्ट हुई है। अब आप ही बताओ वह गुरु बड़ा हुआ या जिसने पचास गुरु बनने वालों में से परीक्षा करके एक को छाँट लिया वह बड़ा हुआ। लोग कहा तो करते हैं—"हम तो उनकी आज्ञा में रहते हैं, वे हमें जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही करते हैं।" किन्तु सत्य बात यह है, कोई किसी की आज्ञा नहीं मानता। उनकी अन्तरात्मा जो साक्षी देती है वही करते हैं। अन्तरात्मा जिसकी साक्षी नहीं देती उस काम को करने के लिये कोई कितना भी बड़ा आदमी कहे हम नहीं करते। इसलिये अपने कल्याण अथवा अकल्याण को जानने में समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा ही अपना गुरु है। गुरु को भी चुनने वाला-गुरुत्व पद पर बैठाने वाला- अपनी आत्मा ही है। अन्तरात्मा की आज्ञा के बिना कोई किसी को गुरु नहीं बनाता। वैसे आत्मा तो चर और अचर सभी में सर्वथा स्वतन्त्र है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! बहुत से लोग कुछ सोचते ही नहीं। अपनी इच्छा किसी एक पर छोड़ देते हैं। वे जैसी आज्ञा करते हैं वैसा ही करते हैं। अपनी इच्छा वे रखते ही नहीं। जैसे लक्ष्मण जी ने श्री रामचन्द्र जी को अपनी इच्छाएँ सौंप दी थीं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, इस पर तुम गम्भीरता के साथ विचार करो। लक्ष्मण ने बहुत सोच समझकर अपनी अन्तरात्मा से यह निर्णय कर लिया था, कि श्रीराम की इच्छानुसार बर्ताव करने में ही मेरा कल्याण है। इसलिये सदा श्रीरामजी की आज्ञा को श्रेष्ठ समझते थे। उनकी इच्छा राज्य छोड़कर वन जाने की नहीं थी, वे श्रीराम को राजसिंहासन पर बिठाना चाहते थे, किन्तु राम नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने आपत्ति नहीं की।

मनुष्य तो विवेकशील है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर अनुमान लगाकर निर्णय करता है, क्या करने में मेरा कल्याण है, मनुष्यों में भी जो प्रकृति पुरुष का विवेचन करने में कुशल है, ऐसे सांख्य शास्त्र को जानने वाले पंडित सर्व शक्ति सम्पन्न मेरे सर्वान्तर्यामी स्वरूप को सुगमता के साथ समझ सकते हैं, विवेक दृष्टि द्वारा देख सकते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! जब आत्मा समान रूप से सब में व्याप्त है, तो आप फिर मनुष्यों की ही इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? सभी आपको समझ सकते हैं, सभी आपका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, है तो सब मेरे ही रचे हुए। मैंने नाना प्रकार के शरीरों की रचना की है। बहुत से शरीर एक पैर वाले हैं, किसी में दो, तीन तथा चार पैर हैं। बहुत से ऐसे हैं जिनके बहुत से पैर हैं, बहुतों के पैर ही नहीं होते। नाना प्रकार की योनियाँ मैंने बनायी हैं, इन सब मे मुझे मनुष्य योनि अत्यंत प्रिय है। क्योंकि मनुष्य प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा निश्चय करके साधनों द्वारा मुझे प्राप्त कर सकता है, इसलिये मनुष्य का दूसरा नाम साधक भी है। मनुष्य की मनुष्यता खाने, पीने, सोने तथा सन्तान उत्पन्न करने मे नहीं है। इन सब कामों को तो पशु पक्षी यहाँ तक कि वृक्ष भी करते हैं। मनुष्य की मनुष्यता है संयम में। जिसने अपनी इन्द्रियों पर, मन पर संयम कर लिया है, ऐसा संयतचित्त पुरुष साधन कर सकता है, वही साधक कहलाने का अधिकारी है। ऐसा साधक इसी शरीर में हेतु और फल का विचार करते हुए दिखाई देने वाले बुद्धि गण रूप लिङ्गों द्वारा अनुमान करके मुझ अग्राह्य का अनुमान करते हैं। अर्थात् इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे मैं हूँ। वेद मेरा वर्णन "नेति-नेति" करके करते हैं। बुद्धिमान

पुरुष विचार करे और संसार की गति का अवलोकन करे, तो उसे मनुष्य शरीर में पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसी बात का उपदेश हमारे पूर्वज महाराज यदु को अवधूत दत्तात्रेय ने दिया था।"

यह सुनकर उद्धवजी, उत्सुकता पूर्वक बोले—"प्रभो! महाराज यदु को अवधूत दत्तात्रेय के दर्शन कहाँ हुए और उन्होंने दत्त भगवान् से क्या-क्या प्रश्न किये तथा दत्त भगवान् ने उनके क्या-क्या उत्तर दिये, कृपा करके मुझे इन बातों तो बताइये।"

छप्पय

नाना योनि बनाइ सबनि महँ निवसूँ भाई।
किन्तु मोइ नरयोनि सबनितैं अति सुखदाई॥
करिकें मनज विचार भेद मेरा सब जानें।
इन्द्रिय मन धी परें माइ साधक पहिचानें॥
नृप यदु अरु अवधूत को, भयो सुखद सम्वाद जो।
अति पावन अति ज्ञानमय, कहँ प्रेम तें सुनहु सो॥

—o—

अवधूत गीता का आरम्भ

(१२२१)

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस यदु गये निहारे वनमहँ ज्ञानी ।
स्थूल, नगन निरभीक युवक कवि सरल अमानी ॥
नित्य मगन अवधूत देखि नृप पूछहिं मुनिवर ।
विचरो बालक सरिस बुद्धि कहँ पाई सुखकर ॥
दक्ष मधुरभाषी सुघर, तो उ जड़ उनमत्त सम ।
निरधन ह्वै विचरो सुखी, काम अगिनिमहँ तपहिँ हम ॥

हम लोग जो इन्द्रियों के अधीन हैं,वे विषयजन्य सुख को ही सुख मानते हैं। हमारी ऐसी धारणा हो गयी है कि भोग सामग्रियाँ जितनी ही प्रचुर मात्रा में हमारे पास होंगी, उतने ही हम सुखी होंगे, किन्तु यह भावना सर्वथा मिथ्या है। यदि भोग सामग्रियों में ही सुख होता तो बड़े चक्रवर्ती राज्य पाट को छोड़कर वन को

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक बार धर्मज्ञ महाराज यदु ने एक तरुण, निर्भीक, विद्वान् ब्राह्मण अवधूत को विचरते हुए देखा। उनकी इस स्वच्छन्दता से प्रभावित होकर राजा ने उनसे प्रश्न किया।"

क्यों जाते। सुख विषयों के ग्रहण में नहीं है विषयों के त्याग में है। तृष्णा का अन्त नहीं। आशा में सुख नहीं, आशा के परित्याग में सुख है। भोग में सुख नहीं, सुख तो योग में है। धनिक को गुदगुदे गद्दों पर भी सुख की नींद नहीं आती। त्यागी कंकड़ों पर भी सुख से सोता है। धनिक को छप्पन प्रकार के व्यञ्जनों में भी स्वाद नहीं आता, त्यागी को भूख लगने पर रूखी-सूखी बासी रोटियों में भी अमृत का स्वाद आता है। धनिक को सोने चाँदी के बने महलों में भी सुख नहीं होता, त्यागी को गंगा के पुलिनों में, वनों में, गिरि गुहाओं में और पाषाण-खण्डों पर भी सबसे अधिक आनन्द आता है। जो जितना ही संग्रही होगा, वह उतना ही भीरु होगा, जो जितना ही त्यागी होगा, वह उतना ही निर्भय होगा।

किसी त्यागी महात्मा की प्रशंसा सुनकर एक सम्राट् उनके दर्शनों को गया। जाड़े के दिन थे, महात्मा नंगे पड़े हुए एक पत्थर के सहारे धूप ले रहे थे। सम्राट् ने जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और प्रार्थना की—"प्रभो! मैं इस सम्पूर्ण देश का सम्राट् हूँ, मेरे योग्य कोई सेवा बताइये।"

महात्माजी ने करवट बदल लिया और उसकी ओर पीठ कर ली। अब सम्राट् उधर सामने खड़ा हो गया। फिर उससे प्रार्थना की—"भगवन्! कोई सेवा बतावें।"

महात्मा ने कहा—"तुम्हारे शरीर की छाया मेरे ऊपर पड़ती है, इससे मुझे धूप तापने में बाधा होती है। तुम्हारी इतनी ही सेवा पर्याप्त है कि तुम छाया को छोड़ दो।"

सम्राट् उनकी इस निस्पृहता को देखकर मुग्ध हो गया और उनके इस त्याग के सम्मुख अपने विशाल धन वैभव और ऐश्वर्य को तुच्छ समझा।

एक महात्मा गंगातट पर बैठे थे। चिन्ता रहित होने के

कारण उनका शरीर कुछ स्थूल हो गया। गाँव के लडकों ने जब उन्हे नेत्र बन्द किये देखा तो आपस मे कहने लगे—"देखो, इस बाबाजी की जाँघ कितनी मोटी और चिकनी है, इस पर लाओ अठारह-गोटी खेलें।" यह कहकर एक ने चाकू निकाला और उस पर खेल खेलने को चिन्ह बनाने लगा। चाकू खींचने से गड गया और उसमें से रक्त निकलने लगा। उसी समय कोई बुद्धिमान् पुरुष वहाँ आ गया, उसने लडके को डाँटकर हटाया। वह पट्टी बाँधने लगा। तब हँसकर परमहस ने कहा—"अरे, चर्म की पट्टी तो बँधी ही है, क्यों पट्टी बाँधता है? सब अपने आप अच्छा हो जायगा।" यह कहकर महात्मा हँस पडे। उनकी इस अनासक्ति को देखकर वह व्यक्ति भौचक्का रह गया। शरीर के भी प्रति ममता का न होना यह कितने आश्चर्य की बात है।

कहने का साराश यह है, कि जिसने दुख के मूल कारण माया मोह को ही त्याग दिया है उसे दुख होगा ही क्यों। हम मोह ममता को तो छोडना नहीं चाहते साथ ही सुख भी चाहते हैं, तो दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं। त्याग से ही शान्ति होती है, वैराग्य से ही निर्भयता आती है। अनासक्त को ही सुख होता है। सरसता में ही आनन्द है। निष्कपटता ही स्व स्वरूप सन्धान में सहायक है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी को उपदेश देने के निमित्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने उनको अवधूत गीता का उपदेश देने के निमित्त महाराज यदु और अवधूत दत्तात्रेय के सम्वाद को सुना रहे हैं। उद्धवजी ने जब महाराज यदु के सबन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् उनसे कहने लगे—"उद्धव! एक बार हमारे पूर्वज महाराज यदु आखेट के निमित्त वन में गये। वहाँ उन्हें एक जलाशय के किनारे पाषाण के सहारे आनन्द में मग्न बैठे हुए एक अवधूत दिखायी दिये। उनका शरीर गौर वर्ण का कुछ स्थूल था। देखने

में वे युवक प्रतीत होते थे, मुखमण्डल पर तेज चमक रहा था। दिगम्बर थे, धूलि धूसरित उनका सम्पूर्ण अङ्ग था। उनके मनोहर मुख पर मन्द-मन्द मुसकान छिटक रही थी। वे स्वच्छन्द होकर विचरण करते थे। सरल, सुन्दर और शान्त थे। महाराज

यदु ने जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और कहने लगे—"ब्रह्मन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ!"

राजा के प्रश्न को सुनकर अवधूतजी ने आँखें खोलीं और राजा को एक बार ध्यानपूर्वक देखा। फिर आप अपनी मन्द मन्द मुसकान की किरणों को राजा के उत्सुकता-पूर्ण आनन पर छोड़ते हुए बोले—"राजन्! आप क्या पूछना चाहते हैं। आप जो पूछेंगे, उसका उत्तर मैं दूँगा। निश्चिन्त होकर आप पूछें।"

अवधूतजी का आश्वासन पाकर राजा बोले—"भगवन्! मैं

पूछना यह चाहता हूँ, कि लोग चिन्तित होते हैं कर्तापन के अभिमान से। यह घर मैंने बनाया है, इसे कोई दूसरा न ले ले। फूट न जाय, गिर न पड़े इसकी चिन्ता घरके स्वामी को होती है। जो उसको अपना नहीं समझता, जिसे कर्तापने का अभिमान नहीं उसे घरके बिकने पर, टूटने-फूटने तथा जीर्ण होने पर कुछ भी चिन्ता नहीं होती। नगर में न जाने कितने घर नित्य नूतन बनते हैं, कितने टूटते-फूटते हैं, जिसे उनमें ममत्व नहीं उसे कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता। अपनी वस्तु के बिगड़ने की सबको चिन्ता होती है। मैं देख रहा हूँ आपको किसी वस्तु में अपनेपन का भाव ही नहीं। आप कर्तापन के भाव से सर्वथा रहित हैं। इस प्रकार की विमल बुद्धि आपको कैसे प्राप्त हुई ? आपने किसको अपना गुरु बनाया ? किससे आपने ऐसी सुन्दर शिक्षा ग्रहण की ? किसका आश्रय लेकर आप विद्वान् होकर भी सरल भोले-भाले बालक की भाँति व्यवहार कर रहे हैं ? किस शिक्षा से शिक्षित होकर आप असङ्गभाव से विचर रहे हैं ?"

हँसकर अवधूत मुनि बोले—"क्यों राजन् ! आप ऐसा प्रश्न किस हेतु कर रहे हैं ?"

महाराज यदु ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा अभिप्राय यह है, कि बिना कारण के–बिना हेतु के–मन्द से मन्द भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। देखा गया है प्रायः धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्व-जिज्ञासा में लोग आयु, यश अथवा वैभवादि के हेतु से ही प्रवृत्त होते हैं। जिनमें करने की शक्ति न हो अशक्त हो, वह काम न करे–अकर्मण्य होकर बैठा रहे–यह तो दूसरी बात है। किन्तु हम देखते हैं आपमें काम करने की शक्ति है। सामर्थ्य रहते हुए भी बहुत से लोग विद्या के अभाव में स्वयं कर्म नहीं कर सकते। कोई योजक उनसे कर्म कराता है, तो करते हैं। किन्तु आपके सम्बन्ध में यह भी नहीं कह सकते, आप समर्थ होने के साथ

ही साथ विद्वान् भी हैं। बहुत से विद्या को तो पढ़ लेते हैं, किन्तु उनमें दक्षता नहीं होती। आप हमें कार्यदक्ष व्यवहारकुशल भी प्रतीत होते हैं। बहुत से विद्वान् होकर भी सुन्दर गुणों से युक्त नहीं होते। आप सुन्दर हैं, शुभग हैं, सौभाग्यशाली हैं। बहुत से लोग कितने भी पंडित हों यशस्वी तेजस्वी हों, किन्तु यदि उनकी वाणी में मधुरता न हो, तो उनके सब गुण व्यर्थ हो जाते हैं। जितना पाप एक हिंसक हत्या से नहीं कर सकता, उतना पाप एक कटुभाषी अपनी कड़वी वाणी से बात-की-बात में कर सकता है। किन्तु आपके एक शब्द से ही मैं समझ गया कि आप मधुर भाषी हैं। इतना सब होने पर भी मैं देखता हूँ आप लोक व्यवहार से सर्वथा उपराम हैं। जड़ पुरुषों के समान तथा पिशाचों के समान चेष्टायें करते हैं। न कुछ संसारी काम काज ही करते हैं और न कुछ करने की इच्छा ही करते हैं। आपको कोई चिन्ता ही नहीं।"

हँसकर अवधूत बोले—"राजन्! चिन्ता किसकी करें ?"

विस्मय के साथ महाराज यदु बोले—"भगवन्! संसार में सभी को कुछ-न-कुछ चिन्ता लगी ही है। किसी को धन की चिन्ता, किसी को स्त्री की चिन्ता, किसी को पुत्र की चिन्ता, किसी को पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान तथा सत्कार की चिन्ता, किसी को पुस्तक लिखने की चिन्ता, किसी को प्रकाशित करने की चिन्ता, सारांश यह है कि सभी किसी-न-किसी चिन्ता में मग्न हैं। और नहीं तो विरक्तों को भी दंड कमण्डलु और कंथा कोपीन की ही चिन्ता है। सभी लोभ और नाना प्रकार की कामनाओं के दावानल में जल रहे हैं। संसाररूप वन में चिन्तारूपी अग्नि लगी है, सब हाहाकार कर रहे हैं। बड़े-बड़े डीलडौल के हाथी भी तड़प रहे हैं, किन्तु इस चिन्ता से व्याप्त संसार में आप उसी प्रकार निश्चिन्त और निर्भय होकर खड़े हैं जैसे दावा-

नल से व्याप्त वन को छोडकर गजराज गङ्गाजी के बीच में सुखी और निर्भय होकर खड़ा हँसता रहता है। वह दावानल के सताप से बचता ही नहीं, अपितु सुरसरि में रहने से सुख और शीतलता का भी अनुभव करता है। आप यह भी नहीं जानते कि पुत्र कलत्रों के संग में रहने से प्राणियों को कितने कितने क्लेश सहन करने पडते हैं। आप निरन्तर आत्म स्वरूप में स्थित रहने से आनन्द में मग्न रहते हैं। आपने यह विद्या किससे सीखी है, इस आनद को दिखाने वाले आपके गुरु कौन हैं ?"

यह सुनकर अवधूत खिलखिलाकर हँस पड़े। दूसरा कोई ऐसा प्रश्न करता तो वे उससे बोलते भी नहीं, किन्तु उन्होंने समझा यह यदु ब्राह्मण भक्त है, इसकी बुद्धि तीव्र है और परमार्थ में इसकी रुचि है, इस कारण यह इन प्रश्नों के उत्तर सुनने का अधिकारी है। यही सब सोच समझकर वे महाभाग अवधूत उन हाथ जोड़े विनयावनत खड़े राजा को देखकर कहने लगे—"राजन् ! मेरा कोई एक गुरु होता तो मैं उसका नाम भी बताता। दीक्षा गुरु एक होते है, किन्तु शिक्षागुरु तो बहुत से हो सकते हैं। जिससे जो गुण सीखा उस गुण का हमारा वही गुरु है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! सुनें भी तो सही, आपने कितने गुरु किये हैं ?"

हँसते हुए अवधूत बोले—"राजन् ! मैंने चौबीस गुरु किये हैं। उन्हीं सबसे शिक्षा लेकर मैं निर्भय होकर स्वच्छन्दता पूर्वक ससार में विचरण करता रहता हूँ, मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! हम आपके उन चौबीस गुरुओं का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। वे ऋषि किस वन में रहकर तपस्या करते हैं ? उनके नाम क्या हैं ?"

अवधूत बोले—"राजन् ! मेरे वे चौबीस गुरु सर्वत्र रहते हैं,

उनके नामों को आप सुनना चाहते हैं, तो प्रेमपूर्वक श्रवण कीजिये। (१) पृथ्वी, (२) वायु, (३) आकाश, (४) जल, (५) अग्नि, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) कपोत, (९) अजगर, (१०) समुद्र, (११) पतंग, (१२) मधुमक्षिका, (१३) हाथी, (१४)मधुहारी (१५) हरिण, (१६) मीन, (१७) पिङ्गला वेश्या, (१८) कुररी पक्षी (१९) बालक, (२०) कुमारी कन्या, (२१) बाण बनाने वाला, (२२) सर्प, (२३) मकडी और (२४) भृङ्गीकीट। ये चौबीस मेरे गुरु हैं, इन्हीं से शिक्षा लेकर मैं निर्भय और निश्चिन्त बन गया हूँ।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह तो बडी ही अद्भुत बात है कि इन प्रायः अशिक्षितों से आपने शिक्षा ग्रहण की। कृपा करके यह और बताइये आपने किस किससे क्या-क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा ने अवधूत दत्तात्रेयजी से चौबीस गुरुओं से ली हुई शिक्षा के सबंध में प्रश्न किया, तो वे राजा को अधिकारी समझकर सबसे ली हुई शिक्षा का वर्णन करने लगे। उन अवधूत ने जिससे जो शिक्षा ली है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

हँसि बोले अवधूत—'भूमि,नभ,अनिल,अनल,जल।
रवि,शशि,अजगर, जलधि,कबूतर,हरिन,रदनबल॥
मधुमक्खी, करि, मीन, पिङ्गला-वेश्या, कुररी।
शरकृत, भृङ्गी, सरप, कुमारी कन्या, मकरी॥
मधुहारी अरु पतङ्ग, गुरु चौबीस बनाइकें।
सबई तैं शिक्षा लई, इन सबके ढिग जाइकें॥

—०—

गुरु रूपा पृथ्वी से शिक्षा

(१२२२)

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद् विद्वान् न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्॥*
(श्रीमा० ११ स्क० ७ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

होवें नित उतपात अवनि पै सबई खोदें।
कहँ चाँदी कहँ कनक खोदिकें नर नित सोदें॥
तऊ न होवे कुपित धीरता मनमहँ धारे।
ज्ञानी को सत्कार करे चाहें तो मारे॥
माला मेली कण्ठ में, काहू ने गारी दई।
रहे सदाई एक रस, यह शिक्षा मू तैं लई॥

एक सत कहीं भिक्षा लेने गये। किसी ने उन्हें सत्कार पूर्वक भिक्षा देने को बुलाया। वे उसके समीप भिक्षा लेने गये, तब उसने डाँटा—"तू यहाँ कमा कर रख गया है क्या? झोली ले लीं माँगते फिरे, भाग जा यहाँ भिक्षा नहीं है। यह सुनकर सत वहाँ

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"महाराज मैंने पृथ्वी से धैर्य व्रत की शिक्षा ली है। जैसे पृथ्वी प्राणियो द्वारा खोदे जाने पर भी अपने धैर्य से विचलित नहीं होती, उसी प्रकार दैवमाया से प्रेरित प्राणी विद्वान् सत को कष्ट पहुँचावें, तो उसे अपने मार्ग से विचलित न होना चाहिये।"

से उठकर चले गये। कुछ दूर गये होंगे कि फिर उसने बुलाया—"आ आ ले जा।" संत फिर लौटकर गये। उसने फिर भी ऐसे ही गालियाँ सुनायीं और लौट जाने को कहा। संत फिर चले आये। इस प्रकार उसने कई बार किया। जब वह बुलाता तब संत चले जाते; जब वह दुतकार देता तब लौट जाते, उनके मुख पर सिकुड़न भी न पड़ी। तब उसने लज्जित होकर संत के चरणों पर सिर रख दिया और उनके धैर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगा—"महाराज! इतनी सहनशीलता तो मैंने किसी में भी नहीं देखी।"

हँसकर संत ने कहा—अरे भाई! इसमें सहनशीलता की कौन सी बात है, पेट के लिये सब कुछ करना पड़ता है। तुम तो मनुष्य की कहते हो, इससे अधिक सहनशीलता तो कुत्ते में होती है। उसे टुकड़ा दिखा दो दौड़ा आवेगा, डंडा मार दो भाग जायगा फिर टुकड़ा दिखा दो तो फिर आ जायगा। तुमने तो मुझमें डंडा भी नहीं मारा था, केवल कुछ वचन कहे थे। उन वचनों को सहकर भी मैं कुत्ते के बराबर भी सहनशील नहीं हुआ।"

एक संत के धैर्य की परीक्षा एक दुष्ट ने की। जब वे नदी से स्नान करके आये तो उसने उनके ऊपर थूक दिया। वे फिर स्नान करके आये, फिर उसने थूक दिया। इस प्रकार उसने १०८ बार थूका और संत ने बिना किसी प्रकार आपत्ति किये १०८ बार स्नान किया। जब वह उनके धैर्य को विचलित न कर सका, तो पैरों में पड़कर उसने अपने अपराध के लिये क्षमा चाही। संत ने कहा—अरे भाई! तुमने तो मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। एक बार ही इस गङ्गा में स्नान करने का कितना फल है, तुमने तो उस फल को एक दिन में मुझे १०८ बार प्राप्त

करने का सुअवसर दिया।" सुनते हैं सन्त,के धैर्य का उस पर बडा प्रभाव पड़ा और वह साधु प्रकृति का बन गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज यदु ने अवधूत मुनि के बताये हुए चौबीस गुरुओं के नाम सुने तो उन्होंने जानना चाहा कि आपने किस गुरु से कौन सी शिक्षा ग्रहण की है। इसी उद्देश्य से राजा ने पूछा—भगवन्! कृपा करके,यह बताइये, आपने इन गुरुओं से कौन कौन सी शिक्षा ली?"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"हे पुरुष सिंह! आप जिस-जिस गुरु के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न करेंगे मैं उसी उसी के सम्बन्ध मे आप से ज्यों-का-त्यों कहूँगा।"

राजा ने पूछा—"अच्छा, सर्वप्रथम यह बताइये आपने पृथ्वी मे क्या सीखा? पृथ्वी को आपने क्यों गुरू बनाया?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! पृथ्वी से बढकर सहनशीलता मैंने कहीं नहीं देखी। इसलिये इसे अपना गुरु बनाकर इससे धैर्यव्रत की शिक्षा मैंने ग्रहण की है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इस विषय को मुझे और भी स्पष्ट करके समझावें।"

अवधूत मुनि बोले—"देखो, पृथ्वी सभी को धारण करती है, किन्तु ऊबती नहीं। उसको लोग फावड़ों से खोदते हैं, हल चलाकर उसके पेट को फाडते हैं, इस पर भी कुपित नहीं होती, प्रत्युत उलटे अन्न-जल देती है। पृथ्वी का बारम्बार पेट फाड-कर उसमे अन्न का एक दाना डालो तो वह एक का बहुत कर देगी। कहीं कहीं खोदने वाले को सुवर्ण, चाँदी, हीरा, कोयला, तैल तथा नाना प्रकार की धातुओं को देती हैं। पृथ्वी के ऊपर नाना प्रकार के उत्पात होते हैं। भूचाल आती है, लोग बडे बडे युद्ध करते हैं, भाँति-भाँति से वसुन्धरा को विदीर्ण करते हैं किन्तु वह सम भावयुक्त और शान्त ही बनी रहती है। इसके ऊपर सभी

मल-मूत्र करते हैं, पाप भी करते हैं, किन्तु किसी पर कुपित नहीं होती, सबकी बुरी से बुरी बात को धैर्य के साथ सहती है। इसके ऐसे गुण को देखकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ। मैंने इसे अपना गुरु मान लिया और तभी से मैंने धैर्य व्रत धारण कर लिया।

साधु को सदा सोचते रहना चाहिए, कि कोई भी किसी को सहसा कष्ट नहीं देता। पूर्व जन्म के संस्कारों के वशीभूत होकर लोगों की ऐसी बुद्धि हो जाती है, ये विवश होकर ऐसा अपराध करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इसलिये यदि किसी ने दैव माया से प्रेरित होकर साधु को कष्ट ही पहुँचा दिया, तो उसे बिना बुरा माने सह लेना चाहिये। मूर्ख यदि मूर्खता करे तो विद्वान् को अपनी विनय का परिचय देना चाहिये, उसे अपने सन्मार्ग से कभी भी विचलित न होना चाहिये। जब भी कभी किसी का अपराध अपने मन में आवे तो भूमि की ओर बार-बार देखना चाहिये। उस पर हुए आघातों को अवलोकन करना चाहिये। इस प्रकार शनैः-शनैः अभ्यास करने से सहनशीलता बढ़ती है। एक शिक्षा तो मैंने पृथ्वी से यह ली। दूसरी शिक्षा पृथ्वी के वृक्ष और पर्वतों से भी ली।"

राजा ने कहा—"वृक्षों से और पर्वतों से आपने कौन सी शिक्षा ग्रहण की महाराज! प्रथम वृक्षों से ही ग्रहण की हुई शिक्षा को समझाइये।"

अवधूत मुनि बोले—"वृक्षों और पर्वतों से मैंने परोपकार की शिक्षा ग्रहण की। देखो, वृक्ष एक स्थान पर रहकर वायु, वर्षा, धूप और पाला सभी को सहन करते हैं। स्वयं तो जाड़ा सहन करते हैं, किन्तु इनके नीचे कोई जाता है तो उसकी जाड़े से, धूप से तथा वर्षा से यथाशक्ति रक्षा करते हैं। इनके पास से तथा वर्षा यथाशक्ति रक्षा करते हैं। इनके पास से अर्थी पुरुष कभी विमुख होकर नहीं जाता। इन पर फल होंगे तो फल देंगे,

पत्ते होंगे तो पत्ते, लकड़ी होगी तो लकड़ी दे देंगे। कोई इन्हें पत्थर मारता है, तो उसके बदले में ये फल देते हैं। परोपकार का इन्होंने सत्र खोल रखा है। अपनी प्रत्येक वस्तु से ये निरन्तर परोपकार ही करते रहते हैं। प्रथम पत्तों को ही ले लीजिये। बहुत से वृक्षों के पत्ते औषधियों में काम आते हैं। नीम के पत्ते पेट में कीड़े पड़ जायँ तो उसके लिये बड़े उपयोगी हैं। पान के पत्ते देव पूजन, मुख शुद्धि में काम आते हैं। पंच पल्लवों का प्रत्येक पूजा में उपयोग होता है। पशु, पत्ते खाकर ही जीते हैं। सूखे पत्ते जलाये जाते हैं भाड़ में झोंके जाते हैं। पत्ता के कागद बनते हैं, सड़ाकर खाद बनती है। सारांश यह है कि कोई भी ऐसा वृक्ष नहीं जिसका एक भी पत्ता व्यर्थ जाय और उससे कुछ प्राणियों का उपकार न हो।

वृक्षों के पुष्पों को ले लीजिये। पुष्प अपनी सुगन्धि से वायु मंडल को सुवासित करते रहते हैं। मालायें बनती हैं जो देवपूजन तथा स्वागत सत्कार के काम में आती हैं। बहुत से पुष्पों की औषधियाँ बनती हैं। अगस्त्य, गोभी, केला आदि के पुष्पों का साग बनता है, महुए आदि के पुष्प सुखाकर खाये जाते हैं। बहुत से पुष्पों से सुगन्धित तेल बनता है। सारांश यह है, कि सभी वृक्षों के फूल किसी न किसी काम में अवश्य आते हैं।

वृक्षों के फल तो प्राणियों को जीवनदान देते हैं। बन्दर आदि पशु, शुक आदि पक्षी फल खाकर ही निर्वाह करते हैं। ऋषि मुनि भी केवल फल खाकर जीवन बिताते हैं। प्राणिमात्र के जीवन की रक्षा वृक्षों के पत्र, पुष्प, फल और बीज ही करते हैं। कुछ लोग पशु पक्षियों का मांस खाकर भी जीवन धारण करते हैं, किन्तु वे पशु पक्षी भी तो वृक्षों की फल पत्ती खाकर जीते हैं। यहाँ तक कि जल के जीव भी काई आदि जल के वृक्षों को

खाकर जीते रहते हैं। साराश यह कि वृक्ष ही प्राय सबको आहार प्रदान करते हैं।

ये अपने बीजों से अपने वश की वृद्धि करते हैं और इनके वशज परोपकार की दीक्षा लेकर ही उत्पन्न होते हैं, जीवन भर उपकार करते रहना ही इनका परम व्रत हे।

ये अपनी छाया से सबको सरदी, धूप तथा वर्षा से बचाते हैं, सबको अपनी छाया में आश्रय देते हैं। पक्षियों को रहन को, घर बनाने को और बैठने को स्थान देते हैं।

इनकी मूल औषधियों के काम में आती हैं। बहुत से मूलों को खाते हैं। बहुत से मूल तो बहुत ही मूल्यवान होते हैं, भूमि के भीतर रहकर भी ये उपकार करते हैं।

वृक्षों के वल्कल प्राणिया के बडे उपयोगी होते हैं। पहिले ऋषि मुनि वल्कलों के वस्त्र पहिन कर ही निर्वाह करते थे। भोज पत्रा क वल्कल पुस्तक लिखने के काम में आते हैं। उन पर जत्र-मन्त्र आदि लिखे जाते हैं, इनकी पत्तल बनाकर लोग भोजन करते हैं। और भी वृक्षों के वल्कल काष्ठादि औषधियों में बहुत महत्व का स्थान रखते हैं।

इनका काष्ठ बडा उपयोगी होता है। घर की कड़ी, सहतीर, जगले, किवाडें तथा अन्यान्य वस्तुएँ वृक्षों की लकडियों से ही बनते हैं। शैया, तखत, चौकी, खडाऊँ, पेटिका, सन्दूकी आदि सभी जावनोपयोगी वस्तुएँ काष्ठ की बनती हैं। पार करने वाली नौकाओं की अनेक वस्तुएँ काष्ठ की ही होती हैं। काष्ठ को जलाकर उसी से भोजन बनाया जाता हे। मरते समय काष्ठ पर ही रखकर अन्त्येष्टि क्रिया की जाती है।

बहुत से वृक्षों में गन्ध निकलती हे–जैसे चदन है, चीड है। बहुतों में तेल निकलता है जो अनेक प्रकार के कठिन रोगों में

काम आता है। चीड़ आदि के वृक्षों की गन्ध से राजयक्ष्मा आदि बहुत से रोग चले हैं। इनकी गन्ध से वायु शुद्ध होती है। शुद्ध

वृक्षों का गोंद बड़ा उपयोगी है। हींग वृक्ष का गोंद ही है, साग भाजी हींग की छोंक से कितनी स्वादिष्ट बनती है हिंगाष्टक चूर्ण आदि अनेकों ओषधियाँ बनती हैं। बबूर का गोंद वीर्य वर्द्धक होता है, आम के गोंद को बिवाइयों में लगाते हैं। गोंद से अनेकों वस्तुएँ चिपकाई जाती हैं।

वृक्षों के काष्ठ को जलाकर उसकी जो भस्म बनाई जाती है, उसकी खाद बनती है। भस्म को मस्तक पर लगाते हैं, ओषधियों में काम आती है। इस शरीर की भस्म भी काष्ठ ही बनाता है।

काष्ठ को जलाकर जो कोयले बनाये जाते हैं उनसे तापते हैं, भोजन बनाते हैं। बड़े बड़े वाष्पयन्त्र कोयलों से ही चलते हैं। कोयले ही चिरकाल तक दबे रहने से नीलम आदि बहुमूल्य बन जाते हैं। वृक्षों के अंकुर पूजन में, मंगल कृत्यों में काम आते हैं। बहुतों का साग बनता है।

कहने का सारांश यह है कि वृक्ष अपनी प्रत्येक वस्तु से परोपकार ही करते हैं। इसी प्रकार साधु पुरुष को अपनी समस्त चेष्टायें परोपकार के ही लिये करनी चाहिये।

राजा ने पूछा—"भगवन्! पर्वतों से आपने क्या शिक्षा ग्रहण की?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! वृक्षों की भाँति पर्वत भी निरन्तर परोपकार में निरत रहते हैं। अपने पाषाणों पर बैठने को स्थान देते हैं। पाषाणों से घर बनाते हैं, मूर्तियाँ बनती हैं। इनमें से निकली नदियाँ सबको जीवन प्रदान करती हैं, नित्य झरने झरते रहते हैं, अपनी कन्दराओं में सबको आश्रय देते हैं। इन पर अनेक ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। पाषाण शिलाओं से शिलाजीत उत्पन्न होते हैं, हीरा आदि की खानें भी इनमें होती

हैं। सारांश यह कि पृथ्वी के जो ये वृक्ष और पर्वत हैं वे निरंतर परोपकार करते रहते हैं। अतः परोपकार की शिक्षा मैंने इनसे ली है। इस प्रकार पृथ्वी से धैर्य और परोपकार ये दो गुण मैंने सीखे।"

यह सुनकर महाराज यदु ने पूछा—"भगवन ! चौबीस गुरुओं में से आपने पृथ्वी से जो दो गुण सीखे वे तो बता दिये। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ, कि वायु को गुरु बनाकर उससे आपने कौन-सी शिक्षा ली ? कौन-सा गुण आपने उससे सीखा ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यदु के पूछने पर अवधूतजी ने वायु से जो शिक्षा ग्रहण की थी, उसे जैसे उन्होंने राजा को बताया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप समाहित चित्त से इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

पर कारजमहँ निरत रहैं सब अंग तैं नग गिरि ।
पत्र, पुष्प, फल, मूल, काष्ठ, वलकल, छाया करि ।।
देहिं सबनि विश्राम करें निज जीवन अरपित ।
आश्रय, जल आहार दान करि होवें प्रमुदित ।।
नित प्रति पर उपकार की, शिक्षा गिरि वृक्षनि दई ।
कहूँ ताहि जो वायुकी, गुरु बनाइ शिक्षा लई ।।

वायु से शिक्षा

[१२२३]

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

केवल करि आहार प्रान सन्तुष्ट रहें नित ।
है सुन्दर रसयुक्त पदारथ नहिँ देवे चित ॥
प्रानवायु तैं लीनी मैंने संयम शिक्षा ।
मिले भाग्यवश रूखी सूखी जैसी भिक्षा ॥
ताकूँ पावे प्रेम तैं, प्रानमात्र धारन करे ।
कबहुँ न रसना-स्वाद के, चक्करमहँ योगी परे ॥

मन एक मदमत्त हस्ती है, इसे वश में करने के लिये सयम रूपी अकुश चाहिये । जिसके जीवन में संयम नहीं वह संसार-सागर से कभी पार नहीं जा सकता । संयम-हीन जीवन बिना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् उद्धवजी को उपदेश देते हुए अवधूत गीता सुनाते हुए कह रहे हैं—मुनि को चाहिये जैसे प्राणवायु केवल आहारमात्र की इच्छा रखता है, उसी प्रकार ऐसे आहार से ही सन्तुष्ट रहे जिससे ज्ञान नष्ट न हो और मन वाणी भी विकृत न हो । उसे इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों की इच्छा न करनी चाहिये ।"

मल्लाह की नौका के सदृश है। संसार की प्रत्येक वस्तु हमें अपनी ओर आकर्षित कर रही है। सभी हमें अपने में मिलाना चाहते हैं। होली खेलने वाले अपने दल वालों पर रङ्ग-कीच नहीं डालते वे तो उसे खोजते हैं जो उनमें मिलना नहीं चाहता, छिपता हैं, जिसे रङ्ग में भिगोकर अपना सा-कर लेते हैं, अपने दल में मिला लेते हैं, फिर उससे नहीं बोलते। संसारी लोग उसी की अधिक आलोचना करते हैं, जो उनसे बचा रहना चाहता है। जो उनमें घुलमिल जाता है वह तो उन्हीं सा हो जाता है, चोर-चोर मौसाते भाई हो जाते हैं। फिर तो यह लोकोक्ति चरितार्थ होती हैं, "तू कहे मत मेरी मैं कहूँ ना तेरी।" बहुत से ज्ञानी साधारण लोगों में मिलकर उनके साथ हा-हा हू-हू कर लेते हैं, जहाँ उनसे पृथक् हुये कि पुनः अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। वे संसार में रहकर भी उससे इसी प्रकार निर्लेप बने रहते हैं जिस प्रकार पद्मपत्र पानी में रहकर भी उससे निर्लेप रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज यदु के पूछने पर अवधूत दत्तात्रेय कह रहे हैं—"राजन्! दूसरा गुरु मैंने वायु को किया हैं।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वायु से आपने कै गुण ग्रहण किये हैं?"

अवधूत बोले—"राजन्! वायु दो प्रकार की होती है। एक भीतर की प्राण वायु, दूसरी बाहर की साधारण वायु। भीतर की प्राण वायु का काम है भूख-प्यास लगाना और अन्न-जल पा कर तृप्त होना। प्राणों के लिये केवल अन्न-जल चाहिये। उन्हें चाहे खीर, हलुआ या रसगुल्ला से तृप्त करो अथवा रूखी सूखी रोटी से तृप्त करो। उन्हें तो केवल आहार से काम है। इसी प्रकार ज्ञानी को केवल शरीर बना रहे इसलिये प्राण धारण के प्रयोजन से आहार करना चाहिये। सुन्दर हो, स्वादिष्ट हो, देखने

में मनमोहक हो, सोने चाँदी के पात्रों में हो, रसीला हो, खट्टा हो, मीठा हो, चरपरा हो इसकी उसे आवश्यकता नहीं। क्योंकि वह समझता है, कि कंठ के नीचे जाते ही सबकी एक गति हो जाती है।"

यदु ने पूछा—"ब्रह्मन् ! फिर खाने की ही क्या आवश्यता है ?

अवधूत बोले—"राजन् ! देखिये, परमार्थ-साधन हम इस शरीर ही द्वारा करते हैं, यदि शरीर ही नष्ट हो जायगा तो हम परमार्थ-साधन किससे करेंगे, इसलिये आसक्ति से नहीं, मोह-ममता से नहीं, केवल परमार्थ का साधनभूत यह शरीर है इस बुद्धि से शरीर की रक्षा करनी चाहिये। भोजन न करने से ज्ञान नष्ट हो जाता है। एक कहानी है कि किसी ऋषि के एक शिष्य थे, उन्होंने पूछा—"ब्रह्म क्या है ?" मुनि ने कहा—"अच्छा तुम इतने दिन भोजन मत करो।" उसने ऐसा ही किया। निराहार रहने से उनकी स्मृति नष्ट हो गयी। गुरु ने उनसे वेद के मन्त्र पूछे, उन्हें स्मरण ही न आये। फिर उन्हें अन्न दिया गया। खाने से उन्हें चेतना हुई और पूछने पर उन्होंने कहा—"अब मुझे वेद शास्त्र सब स्मरण हो आये हैं।" तब ऋषि ने कहा—"अन्न ही ब्रह्म है।" कहने का सारांश यह है, कि अन्न से ही मन बनता है, मन स्वस्थ रहता है तभी ज्ञान होता है। अधिक या अहित-कर भोजन करने से तमोगुण बढ़ता है उससे भी ज्ञान नष्ट होता है। अतः मितमित उतना ही भोजन करना चाहिये जिससे क्षुधा की निवृत्ति हो जाय। भोजन न करने से मन भी विकृत हो जाता है और वाणी भी भली-भाँति नहीं निकलती, बोला नहीं जाता। अधिक भोजन करने से बैठा भी नहीं जाता, इसलिये भोजन उतना ही हो जिससे मन वाणी में विकृति न आने पावे, जिससे प्राण तृप्त हो जायँ। तुम चाहो कि रसना की तृप्ति करें, सो रसना तो कभी तृप्त होने की नहीं। मीठा खाते-खाते खट्टे

और कड़वे की इच्छा होगी, नमकीन खाते-खाते मीठा चाहिये, कुछ चरपरी चटनी भी चाहिये। सारांश यह है जो इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों के पीछे पड़ता है वह परमार्थ--पथ से पतित होता है, अतः भोजन में सदा संयम रखे। हे राजेन्द्र! भोजन के संयम की शिक्षा मैंने प्राण वायु से ली है।"

राजा ने पूछा--"भगवन्! बाह्य वायु जो सदा चलती रहती है, उससे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की है?"

अवधूत बोले--"राजन्! वायु जैसे सर्वत्र चलती है, कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वायु की पहुँच न हो। सर्वगामी होने पर भी वायु अपने स्वरूप से सदा निर्लिप्त रहती है। इसी प्रकार योगी सर्वत्र जाय। राजा के यहाँ, धनी के यहाँ, निर्धन के यहाँ पुरुषों में, स्त्रियों में, शिक्षितों में, अशिक्षितों में, पाखण्डियों में, कर्मकाण्डियों में, किन्तु उनमें लिप्त न हो, सदा निर्लिप्त बना रहे।"

वायु देखने में सुगन्ध दुर्गन्ध युक्त प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में वायु में न सुगन्धि है न दुर्गन्धि। सुगन्धि दुर्गन्धि को कुछ काल के लिये वहन अवश्य करती है, किन्तु उसमें तन्मय नहीं होती। जैसे मृतक को ढोने वाले कुछ दूर तक मृतक को कन्धे पर वहन करके ढोकर ले जाते हैं, किन्तु उसके साथ स्वयं मृतक नहीं बन जाते। गंगा किनारे या स्मशान में उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करके उससे निवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार वायु जहाँ सुन्दर सुगन्धित पुष्पों को देखती है, तो उसकी सुगंधि को साथ लेकर बहने लगती है, कुछ दूर चलकर उस सुगंधि को छोड़ देती है। आगे सड़ा मांस विष्ठा आदि दुर्गन्धि को लेकर चलती है। आगे चलकर उसे भी छोड़ देती है। उसकी शुद्धता में कोई भी अन्तर नहीं आता। गन्ध धर्म है पृथ्वी का। वायु का धर्म तो स्पर्श है। वायु में न सुगन्धि है न दुर्गंधि,

वह न शीत है न उष्ण। गरमियों में कहते हैं—बड़ी गरम-गरम वायु चल रही है, जाड़ों में कहते हैं—बड़ी ठंढी-ठंढी वायु चल रही है। वास्तव में वायु में न ठंडक है न गर्मी है। ठंड के कारण वह ठंढी प्रतीत होती है, गरमी के कारण गरम। इन सबके संसर्ग से स्वयं उसमें कोई विकार नहीं होता। इसी प्रकार आत्मज्ञानी इस शरीर में रहता है। शरीर अशुद्ध है आत्मा शुद्ध है, शरीर नश्वर है आत्मा अजर अमर है। शरीर अनित्य है आत्मा नित्य है। इस प्रकार भिन्न गुणों वाला यह शरीर है, फिर भी ज्ञानी इसी के गुणों का आश्रय लेकर रहे, किन्तु उसमें लिप्त न हो। शरीर को और आत्मा को एक न मान ले। कोई हमारी निन्दा करता है तो करता रहे। यदि वह *आत्मा की निन्दा करता है तो मूर्ख है। आत्मा तो नित्य,* शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है, उसकी निन्दा करने वाले की स्वयं ही निन्दा होगी, सूर्य पर जो धूलि फेंकेगा, उलटकर उसी के सिर पर पड़ेगी। अब रही शरीर की निन्दा की बात, सो शरीर तो निंदित है ही। सिर में पसीना जम जाय, जूएँ हो जाएँ। आँख में से कैसी बुरी कीच निकलती है। नाक में से कैसा घृणास्पद गाढ़ा-गाढ़ा हरे नीले पीले रङ्ग का मल निकलता है, दाँतों पर कैसा मैल जम जाता है, नख बढ़ जाते हैं तो उनमें कितना मैल भर जाता है, कानों से कैसा काला काला मैल निकलता है। मल-मूत्र द्वार से जो निकलता है उसे देखकर स्वयं घृणा होती है। ऐसे घृणित अशुद्ध शरीर की कोई निन्दा करता है तो करता रहे। आत्म ज्ञानी अपने को शरीर तो समझता नहीं। शरीर तो जड़ है, आत्मा चैतन्य है। चैतन्य की कोई निन्दा करे तो करता रहे। वायु को कोई गन्धयुक्त कहे तो कहता रहे, वायु तो सदा शुद्ध है। उसमें कोई भी सुगन्धि दुर्गन्धि चिपट नहीं सकती। जो लोग शरीर को ही मैं मानकर व्यवहार करते हैं वे ही ईर्ष्या,

द्वेष, कलह आदि में फँसकर दुखी होते हैं, पुनः-पुनः जन्मते हैं, पुनः-पुनः मरते हैं। शरीर में रहता हुआ भी उनसे असङ्ग रहे और प्राणों की रक्षा के निमित्त ही नियमित हितकारक भोजन करे, ये दो बातें मैंने वायु से सीखी हे, अतः मेरे दूसरे गुरुदेव वायु हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! पृथ्वी और वायु के द्वारा प्राप्त हुई शिक्षाओं को तो मैंने सुन लिया, अब कृपा करके यह बताइये कि आकाश को आपने गुरु क्यों बनाया? आकाश से आपने क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज यदु के पूछने पर जैसे अवधूत दत्तात्रेय ने अपने आकाश गुरु से ग्रहण की जाने वाली शिक्षा को बताया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गन्ध वहन नित करै रहै निरलेप अनिल हू।
परस न ताकूँ करै गन्ध दुरगन्ध तनिक हू॥
यों ही योगी रहै विरत विषयनितैं नित नित।
तनके आश्रय रहै देहि नहिँ तिनके गुन चित॥
होहि गन्धमहँ लिप्त नहिँ, अनिल सर्वगामी सतत।
शिक्षा लई असग की, विज्ञ वायुवत नित विरत॥

आकाश से शिक्षा

[१२२४]

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

करिकें गुरु आकाश लई जो शिक्षा भूपति ।
कहूँ ताहि अब सुनहु आतमा है असङ्ग अति ॥
व्याप्त चराचर माँहिं सर्वगत अनुगत सबके ।
सूत्र व्याप्त सब माँहिं रहे मनिका वश तिनके ॥
सीखी अपरिछिन्नता, आत्मा देह असङ्गता ।
इन भूतनि ते आतमा, की होवे नहिं एकता ॥

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! महाराज यदु के पूछने पर अवधूत दत्तात्रेय आकाश से ग्रहण की हुई शिक्षा का निरूपण करते हुए कह रहे हैं—देखो महाराज ! आकाश ब्रह्मात्मभाव से सबके अनुगत होने से स्थावर जंगम सभी उपाधियों में व्याप्त है। इसलिये मननशील सन्यासी को चाहिये, कि व्याप्ति के द्वारा उस सर्वगत आत्मा की तथा उसकी अपरिच्छिन्नता, असंगता और आकाशरूपता की भावना करे।"

काल कर्म और स्वभावानुसार सृष्टि का प्रवाह अनादि काल से चल रहा है। संसार में जितने दीखने सुनने वाले भौतिक पदार्थ हैं सब प्राकृत हैं, सब काल के आधीन हैं, काल आने पर अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं और फिर काल आने पर अव्यक्त में मिल जाते हैं। कर्म करने का स्वभाव प्राणियों का स्वाभाविक है, कोई भी प्राणी कभी भी क्षण भर को भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। स्वभाव से-प्रकृति से ही सभी व्यक्त होने को विवश हैं, कर्मों की आसक्ति जन्म मरण का कारण है। आत्मा न तो किसी देश में परिच्छिन्न है, न काल की सीमा में, न कर्म की। आत्मा नित्य है, शुद्ध है, बुद्ध है, असङ्ग है, जिसको ऐसा बोध हो जाता है, वह फिर जन्म-मरण के चक्कर से विमुक्त बन जाता है। आत्मा की अपरिच्छिन्नता तथा असंगता का अनुभव करना, प्रत्येक समय यह भावना बनी रहना कि मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, नित्य कूटस्थ हूँ, यह बड़े भाग्य की बात है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने अवधूत दत्तात्रेय से पूछा—भगवन्! आपने आकाश को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ली?" तब दत्त भगवान् कहने लगे—"देखिये राजन्! आप ऐसा कोई भी स्थान न पावेंगे जहाँ आकाश न हो।"

राजा ने कहा— 'भगवन्! आकाश क्या है? यह जो हमारे ऊपर नीली-नीली छत से तनी है वही आकाश है? जब हम वन में देखते हैं, तो कढाई के सदृश हमें नीली चाँदनी सी तनी दिखाई देती है। वह गोलाकार दीखती है और उसके सिरे दूर के वृक्षों से बँधे दीखते हैं।"

हँसकर दत्त भगवान् बोले—"राजन्! यह आकाश नहीं। ये तो आकाश में वाष्प के धूम्र के बने मेघ घूमते रहते हैं। आकाश का कोई रूप नहीं, रङ्ग नहीं, आकृति नहीं। अवकाश

का नाम आकाश है। हमारे पैर तो पृथ्वी पर टिके रहते हैं और पूरा शरीर आकाश में स्थित है। घड़ा के चारों ओर मिट्टी है उसके भीतर आकाश है, उसे घटाकाश कहते हैं। मठ के चारों ओर दीवाल है, ऊपर छत है, बीच में आकाश है, उसे मठाकाश कहते हैं। देह के चारों ओर अङ्ग प्रत्यङ्ग हे, भीतर आकाश हे, उसे शरीराकाश कहते हैं। ये समस्त नाम निर्देशात्मक वस्तुएँ आकाश में स्थित हैं। घड़ा से भीतर भी आकाश बाहर भी आकाश स्थित है और उसके अणु परमाणु में भी आकाश व्याप्त हे। साराश यह है कि चाहे वृक्ष, पापाण आदि स्थावर हों अथवा पशु, पक्षी, मनुष्य, सरीसृप आदि जगम वस्तुएँ हों सभी में आकाश व्याप्त हे। आकाश में जल के कण निरन्तर घूमते रहते हैं जिसे आकाशगगा कहते हैं। एक यन्त्र विशेष से वे कण एकत्रित करके उनकी हिम–बरफ–बना ली जाती है, उन्हीं जल कणों से ओस बनती हे। वृक्ष भी उन्हीं जल कणों को लेकर हरे भरे रहते हैं। प्रकाश की किरणें भी आकाश मे ही व्याप्त रहती हैं। इन किरणों को यन्त्रों द्वारा एकत्रित करके विद्युत् बनायी जाती है। आकाश में कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ तेज की किरणें न हों। जितने अन्नमय पार्थिव पदार्थ हैं आकाश के बिना उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये सब आकाश में व्याप्त हैं, वायु भी सर्वत्र आकाश में भरा हुई है। आकाश में उस स्थान की हम कल्पना भी नहीं कर सकते जहाँ वायु न हों। कहने का साराश यही कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु सभी आकाश में ही अवस्थित हैं। वायु के द्वारा प्रेरित मेघादि भी आकाश में ही उड़ते घुमड़ते रहते हैं। फिर भी आकाश इन सबसे अप रिच्छिन्न रहता है, अछूत बना रहता है। इसी प्रकार योगी काम्यकर्म स्वर्ग की कामना से यज्ञयाग करने वाले विप्रों में भी रहता है, युद्ध करने वाले क्षत्रियों में भी रहता है, झूठ सत्य से

व्यापार चलाने वाले वैश्यों में, सेवा करने वाले शूद्रों में, पाप से ही आजीविका करने वाले हिंसकों में, दृष्टि से ही मन को अपनी ओर आकर्षित करने वाली स्त्रियों में, सुन्दर-सुन्दर तोतली बोली बोलने वाले बालकों मे तथा युवावस्था के मद से मत्त हुए युवकों में भी रहता है, किन्तु उनसे वह आकश के सदृश निर्लेप रहे। योगी अपने को शरीर तो समझता नहीं वह तो आत्म स्वरूप से अनुभव करता है।"

राजा ने पूछा—"तो भगवन्! देह तो बहुत हैं, फिर आत्मा भी बहुत होगीं। जितने शरीर उतनी आत्मायें होंगी!"

दत्तात्रेयजी ने कहा—"नहीं राजन्! आत्मा तो एक ही है। वही आकाशवत् सबमें व्याप्त है। जैसे घड़े में आकाश है तो वह महाकाश से भिन्न थोड़े ही है। जब तक घड़े के सीमा में आबद्ध है वह घटाकाश कहलाता है, घड़ा फूटने पर वह महाकाश में ज्यों-का-त्यों व्याप्त हो जायगा। इसी प्रकार परमात्मा या ब्रह्म सब स्थावर जंगम उपाधियों मे स्थित है, किन्तु उनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं, कोई लगाव लपेट नहीं। वह सर्वगत और सर्वव्यापक है। सब उसमें रहते हैं, किन्तु वह परिछिन्न नहीं होता। इसलिये प्रथम अपरिछिन्नता की शिक्षा मैंने आकाश से ली।"

दूसरी शिक्षा आकाश से यह ली कि इतनी वस्तुओं के रहते हुए भी आकाश उनमें आसक्त नहीं, अपना व्यक्तित्व उसने खो नहीं दिया है। सबसे घिरा रहने पर भी वह उनसे असंग रहता है। इसलिये योगी को असंगता तथा आकाश रूपता की आत्मा में भावना करनी चाहिये। सूत्र यद्यपि मणियों के भीतर व्याप्त है, माला में एक भी मणि नहीं जिसमे सूत्र न हो, फिर भी वह मणियों से पृथक् है। मणियों के साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। इसी प्रकार परमात्मा देह में रहने पर भी उसके दुःख,

सुख, हर्ष, शोक आदि गुणों से निरन्तर पृथक् बना रहता है। अतः अपरिछिन्नता और असंगता की शिक्षा मैंने आकाश से ली है। इसलिये आकाश को भी अपना गुरु मानता हूँ।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! पृथ्वी, वायु और आकाश से आप ने जो शिक्षायें ग्रहण कीं उनका उपदेश तो आपने मुझे दे दिया। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ, कि आपने जल को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ग्रहण की ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज यदु के प्रश्न को सुन कर भगवान् दत्तात्रेय ने जैसे जल के गुणों पर रीझकर उसे अपना गुरु बनाया और गुरु बनाकर उससे जो-जो शिक्षा ग्रहण की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप समाहित चित्त से इस गूढ़ ज्ञानमय दिव्य उपदेश को श्रवण करें।"

छप्पय

तेज किरण आकाश माँहिं चहुँ दिशितैं आवें।
जलसीकर नित व्याप्त वायु सर्वत्र विराजें॥
पृथिवी जनित पदार्थ रहें सब ताके माहीं।
भरे रहें नित मेघ लिप्त तिन महँ नभ नाहीं॥
ह्वैकें मुनि नित समाहित, करै भावना गगनमहँ।
आत्मा शुद्ध अनादि अज, फँसै न तीनहु गुननिमहँ॥

जल से शिक्षा

[१२२५]

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

जल गुरु तैं गुन चार भूप सीखे अति सुन्दर ।
नित स्वभाव तैं शुद्ध रहे मुनि बाहर भीतर ॥
स्नेह युक्त बनि सबनि प्रेम नहँ नित्य न्हवावै ।
कहिकैं कड़ने वचन चित्त नहिँ कबहुँ दुखावै ॥
तीर्थ रूप सबकूँ बनै, सदा तृप्त सब सबकूँ करै ।
हँसै हँसावै सरल चित, दुखियनि के दुख कूँ हरै ॥

निस्पृहता का अर्थ रूक्षता नहीं है। यथार्थ बात यह है कि बिना निस्पृहता के सरसता आती ही नहीं। जो इन संसारी विषयों में फँसे हुए हैं, जो धन को ही सर्वस्व समझते हैं, उनमें सरसता कैसे आ सकती है। विषयासक्त पुरुष कभी प्रेम कर ही नहीं सकता। प्रेम तो विषयों से विरक्त निस्पृह पुरुष ही करना

---

* भगवान् दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! जल स्वभाव से स्वच्छ, स्निग्ध, मधुरतायुक्त तथा मनुष्यों के लिये तीर्थ स्वरूप है, उसी प्रकार मुनि भी इन गुणों को धारण करके अपने मित्रों को दर्शन, स्पर्श और कीर्तन के द्वारा पवित्र कर देता है।"

जानते हैं, क्योंकि प्रेम कोई लौकिक वस्तु नहीं। वह तो अलौकिक है, फिर लौकिक धन तथा विषयों से उसका क्या सम्बन्ध? बहुत से लोग कहा करते हैं—"हम तो खरी बात कह देते हैं, किसी को भली लगे चाहे बुरी। हमें किसी से लेना देना तो है नहीं।" लेना देना न भी हो, किन्तु किसी को उद्वेग पहुँचाना यह कहाँ की बात है। किसी को कड़ी बात कहकर उसके हृदय को व्यथित करना यह त्याग नहीं, वैराग्य नहीं, दोष है, अपनी त्रुटि है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज यदु ने दत्तात्रेयजी से पूछा कि ब्रह्मन्! आपने जल को क्यों गुरु बनाया, तब महा मुनि अवधूत दत्तात्रेय कहने लगे—"राजन्! जल से मैंने चार गुण सीखे हैं—स्वच्छता, स्नेहयुक्तता, मधुर भाषिता और तीर्थ रूपता।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इन चारों की व्याख्या करके मुझे समझाइये। जल से स्वच्छता गुण आपने कैसे सीखा?"

अवधूत बोले—"देखिये राजन्! जल स्वभाव से ही स्वच्छ होता है, उसमें दोष नहीं होता, इसी प्रकार मुनि को भीतर से सदा स्वच्छ रहना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! जल को तो हमने गँदला देखा है। दुर्गन्धियुक्त भी जल होता है, कोई-कोई जल स्वच्छ भी होता है। फिर आप जलमात्र को स्वच्छ कैसे बता रहे हैं?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! जल स्वभाव से तो स्वच्छ ही होता है। उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं होती, यह जो तुम जल को गँदला देखते हो, यह गँदलापन जल का स्वभाव नहीं, वह तो पृथ्वी के संसर्ग से गँदला हो जाता है। गँदले जल को पात्र में स्थिर करके रख दो, मिट्टी नीचे जम जायगी, जल

स्वच्छ हो जायगा। इसी प्रकार जल मे न सुगन्धि है न दुर्गन्धि, गन्ध गुण तो पृथ्वी का है। उसी के कारण जल में सुगन्ध दुर्गन्ध आ जाती है। दुर्गन्धयुक्त जल में से पार्थिव अंश निकाल दो वह स्वच्छ हो जायगा। जल शीतल होता है, शीतलता उसका स्वभाव है, इसी प्रकार मुनि को भी स्वच्छ और शीतल स्वभाव का होना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! हमने तो गरम भी जल देखा है। गरम जल से स्नान करते हैं। बहुत से स्थानों से निरन्तर गरम जल निलकता रहता है।"

अवधूत मुनि बोले—"जल कभी भी गरम नहीं है, वह गरमी तो क्षणिक सम्बन्ध से आ जाती है। अग्नि से संसर्ग होने से वह उष्ण-सा बन जाता है। कुछ काल उसे रखा रहने दो अपनी प्रकृति में आ जायगा, शीतल बन जायगा। जहाँ से जल गरम निकलता है, वहाँ की भूमि में गंधक आदि तैजस पदार्थ होते हैं, उनके संसर्ग से यह गरम हो जाता है। वहाँ से हटाकर रख दो शीतल हो जायगा। इसी प्रकार मुनि भीतर से स्वभाव से तो शीतल होता है, किन्तु कोई उद्धत पुरुष आता है, तो उसे उसके हित के लिये डॉट भी देता है, जैसे जड़ भरत ने राजा रहूगण को डाँट दिया था। डाँटकर उन्होंने उसका हित ही किया। जब वह तत्त्व को समझ गया, तो प्रसन्न होकर चले गये। उसके दुर्व्यवहार से उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। दस्युओं ने उन्हें बलिदान चढाना चाहा, वहाँ बोले भी नहीं शान्त ही बने रहे। जिस प्रकार जल की प्रकृति स्वच्छ और शीतल है, उसी प्रकार मुनि को स्वभाव से ही स्वच्छ शीतल होना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! दूसरा गुण आपने जल से क्या सीखा?"

मुनि बोले—"राजन्! जल स्नेहयुक्त होता है। अर्थात् वह

जानते हैं, क्योंकि प्रेम कोई लौकिक वस्तु नहीं। वह तो अलौकिक है, फिर लौकिक धन तथा विषयों से उसका क्या सम्बन्ध ? बहुत से लोग कहा करते हैं—"हम तो खरी बात कह देते हैं, किसी को भली लगे चाहे बुरी। हमें किसी से लेना देना तो है नहीं।" लेना देना न भी हो, किन्तु किसी को उद्वेग पहुँचाना यह कहाँ की बात है। किसी को कड़ी बात कहकर उसके हृदय को व्यथित करना यह त्याग नहीं, वैराग्य नहीं, दोष है, अपनी त्रुटि है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज यदु ने दत्तात्रेयजी से पूछा कि ब्रह्मन्! आपने जल को क्यों गुरु बनाया, तब महा मुनि अवधूत दत्तात्रेय कहने लगे—"राजन्! जल से मैंने चार गुण सीखे हैं—स्वच्छता, स्नेहयुक्तता, मधुर भाषिता और वीर्य रूपता।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इन चारों की व्याख्या करके मुझे समझाइये। जल से स्वच्छता गुण आपने कैसे सीखा ?"

अवधूत बोले—"देखिये राजन्! जल स्वभाव से ही स्वच्छ होता है, उसमें दोष नहीं होता, इसी प्रकार मुनि को भीतर से सदा स्वच्छ रहना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! जल को तो हमने गँदला देखा है। दुर्गन्धियुक्त भी जल होता है, कोई-कोई जल स्वच्छ भी होता है। फिर आप जलमात्र को स्वच्छ कैसे बता रहे हैं ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! जल स्वभाव से तो स्वच्छ ही होता है। उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं होती, यह जो तुम जल को गँदला देखते हो, यह गँदलापन जल का स्वभाव नहीं, वह तो पृथ्वी के संसर्ग से गँदला हो जाता है। गँदले जल को पात्र में स्थिर करके रख दो, मिट्टी नीचे जम जायगी, जल

स्वच्छ हो जायगा। इसी प्रकार जल मे न सुगन्धि है न दुर्गन्धि, गन्ध गुण तो पृथ्वी का है। उसी के कारण जल में सुगन्ध दुर्गन्ध आ जाती है। दुर्गन्धयुक्त जल में से पार्थिव अंश निकाल दो वह स्वच्छ हो जायगा। जल शीतल होता है, शीतलता उसका स्वभाव है, इसी प्रकार मुनि को भी स्वच्छ और शीतल स्वभाव का होना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! हमने तो गरम भी जल देखा है। गरम जल से स्नान करते हैं। बहुत से स्थानों से निरन्तर गरम जल निकलता रहता है।"

अवधूत मुनि बोले—"जल कभी भी गरम नहीं है, वह गरमी तो क्षणिक सम्बन्ध से आ जाती है। अग्नि से संसर्ग होने से वह उष्ण-सा बन जाता है। कुछ काल उसे रखा रहने दो अपनी प्रकृति में आ जायगा, शीतल बन जायगा। जहाँ से जल गरम निकलता है, वहाँ की भूमि में गंधक आदि तैजस पदार्थ होते हैं, उनके संसर्ग से यह गरम हो जाता है। वहाँ से हटाकर रख दो शीतल हो जायगा। इसी प्रकार मुनि भीतर से स्वभाव से तो शीतल होता है, किन्तु कोई उद्धत पुरुष आता है, तो उसे उसके हित के लिये डाँट भी देता है, जैसे जड भरत ने राजा रहूगण को डाँट दिया था। डाँटकर उन्होंने उसका हित ही किया। जब वह तत्त्व को समझ गया, तो प्रसन्न होकर चले गये। उसके दुर्व्यवहार से उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। दस्युओं ने उन्हें बलिदान चढाना चाहा, वहाँ बोले भी नहीं शान्त ही बने रहे। जिस प्रकार जल की प्रकृति स्वच्छ और शीतल है, उसी प्रकार मुनि को स्वभाव से ही स्वच्छ शीतल होना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! दूसरा गुण आपने जल से क्या सीखा?"

मुनि बोले—"राजन्! जल स्नेहयुक्त होता है। अर्थात् वह

इतना सर्वप्रिय होता है, कि उसे पाकर सभी प्रसन्न होते हैं। जैसे जल में घुसते ही सब हँसने लगते हैं, किसी के ऊपर प्रेम से कोई जल उलीचता है तो वह हँस पड़ता है। कोई सूखी वस्तु हो, उससे जल का संसर्ग हो जाय, तो वह गीली हो जाय। इसी प्रकार मुनि शुष्क हृदय वालों से भी मिले तो उनका भी हृदय द्रवित हो जाय। सबका हृदय उसके दर्शन से ही प्रमुदित हो जाय।"

राजा ने कहा—"भगवन्! जल से तीसरा गुण आपने क्या सीखा ?"

मुनि बोले—"राजन्! जैसे जल सदा मधुर होता है, उसी प्रकार योगी को भी सदा मधुरभाषी होना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! सब जल मीठा ही हो सो बात नहीं, बहुत से स्थानों का जल बहुत खारा होता है। समुद्र का जल ऐसा होता है कि मुख में भी नहीं दिया जाता, फिर आप जल के स्वभाव को मधुर कैसे बता रहे हैं ?"

मुनि ने कहा—"देखिये, राजन्! जल का स्वभाव तो मीठा ही है। स्थान भेद से भूमि के संसर्ग से वह खारा हो जाता है। जहाँ की भूमि नमकीन होती है, नमक का अंश जहाँ अधिक होता है, वहाँ का जल भी खारा हो जाता है। खारापन जल का स्वाभाविक गुण नहीं है, वह तो संग दोष से भान होने लगता है। समुद्र के जल में नमक विशेष है इसलिये वह पीया नहीं जा सकता। उसमें से नमकीन अंश को पृथक् कर दो शुद्ध जल रह जाय, तब वह मीठा ही होगा। समुद्र के जल को उबालने रख दो और एक पात्र से ढक दो। उस पात्र में जो वाष्प बनकर जल ऊपर आ जायगा, वह नमकीन न होकर मीठा ही होगा। इस क्रिया से समुद्र के जल में भी लवणांश निकाल कर उसे पेय बनाया जा सकता है। जल का स्वभाव मधुर है। मीठे

फलों में पहुँच कर वह और मधुर हो जाता है, नमक मिलने से नमकीन हो जाता है। ये जो गुण हैं वे पार्थिव हैं। जल जब निःसंग अपने स्वभाव में रहता है, तो वह मीठा ही होता है।"

मधुर वचन बोलना यह एक बड़ा गुण है। जो कटुभाषी हो, उसे समझना चाहिये उसके भीतर द्वेष भरा है। बिना द्वेष के कटुवचन निकल ही नहीं सकते। जैसे जिस पात्र में जैसी वस्तु भरी होगी, वैसी ही उसमें से भाफ निकलेगी। मनुष्य के भीतर पेट में जैसा भोजन पच रहा होगा उसे वैसी ही डकार आवेगी। इसी प्रकार जिसके भीतर कटुता होगी, वह कटु वचन बोलेगा। योगी का अन्तःकरण शुद्ध होता है, अतः उसमें से कटुवचन निकल नहीं सकते। कटुवचन बोलना बड़ा दोष है। बाण का घाव पुर जाता है, किन्तु कटुवचन का घाव कभी पुरता नहीं। बाण की व्यथा भूली जा सकती है, किन्तु कटुवचन से होने वाला व्यथा कभी भूली नहीं जाता।

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! प्रेम में भी तो कटुता आ जाती है। प्रेमियों को भी हमने परस्पर में कटुवचन कहते देखा है।"

हँसकर अवधूत योगेश्वर बोले—"राजन! प्रेम की कटुता तो मिश्री से भी मीठी होती है, वह तो प्रेम को बढ़ाती है। प्रेम तो एक ऐसी अनिर्वचनीय वस्तु है कि उसमें आकर जितने दोष हैं, वे सब गुण बन जाते हैं। प्रेम एक ऐसा पारस है कि अवगुण रूपी कैसा भी लोहा हो सब सोना हो जाता है। प्रेम के अनन्तर मान होता है, मान में कटुवचन बोले जाते हैं, वे प्रेम के कारण और भी मधुर हो जाते हैं। निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जड़ता, व्रीडा, वितर्क, चिन्ता, उग्रता, अमर्ष, असूया तथा चपलता ये सब दोष हैं। किन्तु प्रेम का इनसे सम्बन्ध होने से ये सबके सब प्रेम के पोषक व्यभिचारी भाव

बन जाते हैं। रस शास्त्रों में इनका बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है और इन भावों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। योगी का हृदय प्रेम से भरा रहता है अतः वह जल के समान स्वभाव से मधुर होता है। किसी संग से उसमें कटुता आ भी जाती है तो उसे वह तुरन्त त्याग देता है। इसलिये जल से तीसरा गुण मैंने यह ग्रहण किया, कि सदा मधुरभाषी होना चाहिये, किसी को कड़वे वचन कहकर उद्वेग न पहुँचाना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! जल से चौथा गुण आपने कौन-सा ग्रहण किया?"

मुनि बोले—"राजन्, जल तीर्थ संज्ञा है वह सबको पवित्र कर देता है। आप शौच गये, मिट्टी लगाकर जल से हाथ धोलो पवित्र हो गये। वस्त्र मैले हो गये खार लगाकर जल से धो दो स्वच्छ हो गये। वर्तन जूठा हो गया, मिट्टी लगाकर जल से धो दो, पवित्र हो गया। सोने से, निषिद्ध कर्म करने से शरीर अशुद्ध हो गया, जल में स्नान करलो शुद्ध हो गये। कोई जान में अनजान में पाप बन गया, काशी, प्रयाग, पुष्कर तथा कुरुक्षेत्र आदि पवित्र तीर्थों में स्नान कर लिया शुद्ध हो गये। जिस प्रकार तीर्थ रूप जल सबको दर्शन से स्पर्श से, पवित्र कर देता है, उसी प्रकार योगी सदा सबको दर्शन देकर, छूकर तथा कीर्तन करके सबको पवित्र करता रहे। सबकी ओर प्रेम-भरी दृष्टि से निहारे। जिसके नेत्रों में सरसता नहीं, प्रेम नहीं, उसकी ओर देखकर किसी को प्रसन्नता नहीं होती। जिसके नेत्रों से अनुराग फूट-फूटकर निकल रहा हो, उसको देखकर रोते हुए भी हँस जाते हैं। विशुद्ध अन्तःकरण का पुरुष किसी को कृपा करके छू देता है, तो उसके रोम-रोम खिल जाते हैं। वह मुनि का स्पर्श पाकर कृतार्थ हो जाता है। अपनी वाणी से भगवान् के गुणों का गान करके भगवान् के नामों का कीर्तन करके वह प्राणीमात्र को पवित्र

बना देता है। इसलिये वीर्य स्वरूपता की शिक्षा मैंने जल से ली जिन योगियों का अपने लिये कोई कर्तव्य ही शेप नहीं, जो लोक कल्याण के ही निमित्त भ्रमण करते रहते हैं, उन योगियों के दर्शन स्पर्श और नाम-कीर्तन से त्रिभुवन पवित्र होता है। जैसे जल जीवों के लिये जीवनाधार है वैसे ही मुनि को भी सबका जीवनाधार बनकर सबके हित के कर्मों में लगे रहना चाहिये। जैसे जल सब को तृप्त करता है, वैसे ही योगी को अधिकारियों को तृप्त करना चाहिये।"

महामुनि अवधूत दत्तात्रेय, राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! इन चार गुणों से रीझकर ही मैंने जल को अपना गुरु बनाया है।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! अग्नि को आपने गुरु क्यों बनाया, उससे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की ?"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार अवधूत दत्तात्रेय ने अग्नि से जो शिक्षा ग्रहण की और उसका जिस प्रकार राजा यदु को उपदेश दिया उस परम शिक्षाप्रद प्रसंग का वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस उत्तम उपदेश को एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

दरशन देकें करै सबनिकूँ शुद्ध सरल चित।
परस प्रेम तै करै, करै नित सब प्रानिनि हित॥
कृष्ण कीरतन करै कथा कूँ सुनै सुनावै।
पर स्वारथ महँ निरत सबनि कूँ धीर बधावै॥
जीवन ही जल कूँ कहयो, सृष्टि प्रथम जल तैं भई।
उत्तम शिक्षा नीर गुरु, तैं राजन्! मैंने लई॥

अग्नि से शिक्षा

[१२२६]

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० ४५ श्लोक)

छप्पय

तेजस्वी मुनि रहे अग्नि के सरिस निरन्तर ।
तप तें हैं देदीप्य प्रकाशित भीतर बाहर ॥
क्षुभित होहि नहिं कबहुँ पेट ही पात्र बनावें ।
भिक्षा में जो मिलै ताहि ताही छिन खावें ॥
रहै सबभक्षी तऊ, कबहुँ न मल धारन करे ।
कहूँ गुप्त कहुँ प्रकट हैं, भिक्षादातनि अघ हरे ॥

मनुष्य मे दीनता संग्रह के कारण आती है। जो जितना ही अविश्वासी होगा, वह उतना ही चिन्तित रहेगा। भोगों की तृष्णा हमें अधिकाधिक संग्रह करने को विवश करती है। अधिक संग्रह होने से अधिक चिन्ता बढ़ती है। चिन्ता मे सुख नहीं, शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। कारावास का बन्दी एक है, उसे भय बना

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—राजन् ! युक्तात्मा मुनि अग्नि के समान तेजस्वी होता है, तप से दीप्त रहता है, दुर्धर्ष होता है और केवल पेट ही उसका पात्र होता है, वह सर्वभक्षी होने पर भी उसको भस्म तो कर देता है, किन्तु स्वयं मलिन नहीं होता।"

हुआ है कि मुझे फाँसी होगी। फाँसी की तिथि निश्चित नहीं, समय का ज्ञान नहीं, फिर भी उसे सदा भय बना ही रहता है। उस दशा में उसे सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराओ, सुगन्धित सुमनों की मनोहर मालाओं को पहिनाओ, गुदगुदे गद्दों पर सुलाओ, इतर फुलैल सुँघाओ, सस्वर सुन्दर सङ्गीत सुनाओ, चित्त को आकर्षित करने वाले रूपों को दिखाओ, उसके लिये सब व्यर्थ हैं, क्योंकि उसे तो फाँसी का खुटका लगा हुआ है। निश्चिन्तता में ही सब वस्तुएँ अच्छी लगती हैं। निश्चिन्तता होती है अभय से, अभय की प्राप्ति होती है वैराग्य से और वैराग्य होता है त्याग से। वास्तविक त्यागी अपरिग्रही ही हो सकता है। जितने से पेट भर जाय, उससे अधिक जो चाहता है, सग्रह करता है, वह चोर है। उसे फिर फिर जन्मना फिर-फिर मरना रूप दड प्राप्त होना ही चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा यदु ने अवधूत दत्तात्रेय से अग्नि से प्राप्त होने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो महामुनि दत्तात्रेय कहने लगे—"राजन्! अग्नि से मैंने बहुत गुण सीखे हैं, इसलिये अग्नि मेरे परम गुरु हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने अग्नि से जो गुण ग्रहण किये हैं, उन्हें व्याख्या सहित मुझे समझाइये।"

यह सुनकर मुनि बोले—"राजन्! अग्नि से प्रथम गुण तो मैंने यह ग्रहण किया, कि अग्नि जैसे परम तेजस्वी होते हैं, उसी प्रकार मुनि को तेजस्वी होना चाहिये। तेज क्षीण होता है इन्द्रिय लोलुपता से। जिस मुनि की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह मूर्खों को भले ही ठग ले सज्जन पुरुषों के सम्मुख उसका हृदय धड़कता रहता है, वह निर्भय होकर कोई बात नहीं कह सकता। कोई भी पाप ऐसा नहीं जो छिपकर किया जाय। जिसके पाप को मनुष्य और देवता जानते हैं, वह अति तेजस्वी हो ही नहीं

सकता। अतः इन्द्रियों को वश में करके अग्नि के समान सदा तेज को धारण करता रहे।"

दूसरा मैंने अग्नि से यह सीखा कि मुनि सदा अग्नि के समान तपता रहे अर्थात् तप में निरत रहे। तपस्या के बिना आत्मा का प्रकाश नहीं होता।"

राजा ने पूछा—"तप किसे कहते हैं भगवन्!"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"राजन्! कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार तप तीन प्रकार का होता है। हाथ से देवताओं के निमित्त पूजा की सामग्रियों को एकत्रित करना, फूल तोड़ना, माला बनाना, चन्दन घिसना, भगवान् के मन्दिर में झाडू लगाना, देवताओं की सविधि पूजा करना यही शारीरिक तप है। जिस प्रकार भगवान् का, इन्द्रादि अन्य देवताओं का पूजन करे उसी प्रकार भगवद्भक्तों की भी पूजा करे, ब्राह्मणों की भी सेवा पूजा करे तथा और भी जो अपने से तप में, तेज में, प्रभाव में, आयु में तथा विद्या आदि में श्रेष्ठ हों उनकी भी पूजा करे। स्वच्छ शुद्ध वस्त्रों को पहिने, सविधि स्नान करे, पवित्रता रखे। सबके साथ सरल व्यवहार रखे। शरीर से पर पुरुष परस्त्री का दर्शन, स्पर्श और संग न करे। किसी को मारे नहीं, हिंसा न करे, इन्हीं सबका नाम शारीरिक तप है। कृच्छ चान्द्रायण आदि व्रत करके शरीर को तपाता रहे ?"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वाचिक तप क्या है ?"

अवधूत मुनि बोले—"वाणी का सबसे बड़ा तप तो है मौन। किसी से बोले नहीं। वाणी से तो मौन रहे और संकेत या लिख कर ऐसी-ऐसी कड़वी बातें कह दे कि दूसरों का चित्त दुखी हो जाय, तो उसका मौन मौन न होकर ढोंग है, दम्भ है, पाखण्ड है, आजीविका चलाने का व्यापार है। वह तो दुगुना पापी है, एक तो वाणी को रोककर वह भगवन् के गुणगान से वञ्चित रहा,

दूसरे संकेतों से और लिखकर दूसरों पर प्रहार करता रहा। बोलने का उतना कुपरिणाम नहीं होता, जितना संकेत से होता है। बोलने में तो जो बोलेगा वही समझा जायगा। क्रोध मे भर कर यदि कोई संकेत करता है, तो भावना के अनुसार उसके अनेकों अर्थ लगाये जाते हैं। अतः वाणी से बोले तो सत्य बोले। बहुत लोग बात तो सत्य कहते हैं किंतु कहते हैं इतने बुरे ढङ्ग से कि सुनने वाले के चित्त में उद्वेग हो जाता है। इसलिये अप्रिय सत्य को भी न बोले। वचन हितकर भी हों और सुनने में मधुर भी हों। हितकर वचन बोले, बहुत अधिक न बोले, अनुद्वेगकर वचन बोले। उद्वेग करने वाले, असत्य, कडवे तथा अहितकर वचनों को भूलकर भी न बोले। यदि ऐसा वचन बोलने की क्षमता न हो तो बोले ही नहीं। केवल भगवान् के नामों का उच्चारण करे, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करे। ऋषियों के वचनों को कठस्थ करता रहे। वाणी का यही सबसे बड़ा तप है।"

राजा ने पूछा—"मानसिक तप क्या है भगवन् ?"

मुनि बोले—"राजन् ! सबसे बडा मानसिक तप तो यह है, कि सर्वदा प्रसन्न रहे, फूल की भाँति खिला रहे, विषाद की रेखा मुखमण्डल पर आने ही न दे। भीतर से जब मन प्रसन्न होता है, तो उसकी झलक मुख पर स्पष्ट दिखाई देती है। जिनका अतःकरण विशुद्ध न होगा, वे खुलकर हँस ही नहीं सकते। मन को प्रसन्न बनाये रखना यह कहने से नहीं होता। इसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। जिनका मन कुटिल होता है, वे कुटिलता की ही बात सोचते रहते हैं, अतः मन की कुटिलता को निकालकर सौम्यता सुशीलता तथा सरसता को धारण करना सदा सत् पदार्थ का ही मन से मनन करते रहना, असत् पदार्थों की आसक्ति से सदा मन को हटाये रहना अर्थात् असंग रहना, मन को अपने वश में रखना, उसे इधर-उधर विषयों में भटकने

न देना तथा भावों को पवित्र रखना, कभी अपवित्र विचारों को बैठने के लिये मन में स्थान न देना, ये ही सब मानसिक तप हैं। जैसे अग्नि सदा तप्त रहते हैं उसी प्रकार इन तीनों प्रकार के तपों से देदीप्यमान रहना यह दूसरा गुण मैंने अग्नि से सीखा है।

तीसरा गुण मैंने यह सीखा कि अग्नि को कोई क्षोभ नहीं पहुँचा सकता, उसे कोई दबा नहीं सकता। इस प्रकार लोग मुनि के साथ कैसा भी व्यवहार करें वह अक्षोभ्य बना रहे। ऐसा होने से यदि कोई उसका घर्षण करना चाहे तो नहीं कर सकता। चौथा गुण मैंने अग्नि से असंग्रह का सीखा।"

राजा ने पूछा—"असंग्रह का गुण कैसा भगवन्!"

मुनि बोले—"राजन्! जैसे अग्नि को कोई ईंधन आदि देता है तो वह उसे अपने उदर में रख लेते हैं, भस्म कर देते हैं। कल के लिये संग्रह करके नहीं रखते। इसी प्रकार त्यागी मुनि को भिक्षा में जो भी रूखा सूखा मिले, उसे पेट में ही रख ले। दूसरे मिट्टी या धातु के पात्र में एकत्रित करके उसे कल के लिये उठा कर न रखे। केवल एक उदर को ही पात्र समझे। इसमें जितना आ जाय उतना ही रखे।"

राजा ने कहा—"महाराज! कल न मिला तो?"

मुनि बोले—"राजन्! मिलेगा क्यों नहीं? अजी, जिसने गर्भ में भोजन का प्रबन्ध किया, वह क्या बाहर नहीं कर सकता। जिसने उदर बनाया है वह उसकी चिन्ता करेगा। घोड़ा रखने वाला घुड़साल का प्रबंध पहिले ही कर लेता है। बच्चा पैदा पीछे होता है, माता के स्तनों में दूध पहिले ही प्रकट हो जाता है। कल के लिये रखो चाहे न रखो, जो तुम्हारे भाग्य का होगा, वह तुम्हें अवश्य मिलेगा। तुम्हारे भाग्य में नहीं है, तो लाखों वस्तुएँ तुम्हारे आस पास पड़ी हैं, उनका उपभोग तुम न कर सकोगे।

जिसके बहुत-सा अन्न पड़ा है क्या वे कभी भूखे नहीं रह जाते। कभी-कभी अन्न सम्मुख आ जाने पर भी हम भाग्यवश उसे नहीं खा सकते। जब सब भाग्य का ही खेल है, तो त्यागी यति संग्रह करके चिन्ता और क्यों मोल ले। असंग्रह में बड़ा बल होता है। एक संत थे, उनके साथ सहस्रों मनुष्य रहते थे। एक दिन का वे सीधा सामान लेते थे। रसोई बनी, भगवान् का भोग लगा सबने प्रसाद पा लिया, फिर जितने बनाने के पात्र होते, अन्न बचता सबको नदी में फिकवा देते। दूसरे दिन फिर आ जाते। इसलिये त्यागी विरागी यति को कभी भी उदर पूर्ति के अतिरिक्त संग्रह न करना चाहिये।"

चौथा गुण मैंने अग्नि से यह सीखा कि अग्नि में कोई घी डाल दो, सुगन्धित सामग्री डाल दो या विष्ठा मूत्र डाल दो। उनमें पड़ते ही सब स्वहा हो जायगा, उन वस्तुओं का गुण दोष अग्नि को स्पर्श न कर सकेगा। इसी प्रकार यति को कोई भी भिक्षा दे दे, उसे पाकर प्रसन्न रहे, भेद बुद्धि न करे कि अमुक का लेंगे अमुक का न लेंगे। संयतचित्त होकर उनके गुण दोषों से विमुक्त बना रहे।

पाँचवाँ गुण मैंने अग्नि से यह सीखा कि अग्नि कहीं तो प्रकट रूप से रहते हैं, जैसे यज्ञ में चूल्हे में तथा अन्य स्थानों में, और कहीं अप्रकट रूप से रहते हैं, जैसे बाँस में ईंधन में तथा सब वस्तुओं मे। इसी प्रकार मुनि को चाहिये कि कहीं अवसर देखे तो प्रकट हो जाय, सभाओं में सभापति बन जाय, सम्मान ग्रहण कर ले। कहीं गुप्त रूप से वेष बदलकर घूमता रहे। गुफाओं में अभ्यास करता रहे। किसी एक ही स्थान में अपनापन करके न रहे।

छठा गुण अग्नि से मैंने यह सीखा कि जैसे जाड़ों में शीत निवारण करने वाले लोग चारों ओर से अग्नि को घेरे रहते हैं,

गरमियों में भी भोजन बनाने वालों से तथा यज्ञ यागादि करने वालों से सेवित होते हैं, फिर भी उनके तेज में कोई न्यूनता नहीं आती। उसी प्रकार आत्म कल्याण की इच्छा करने वाले मुमुक्षु यति को घेरे रहते हैं, वह उन सब को आलोक प्रदान करता है, किन्तु उसके तप तेज में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

सातवाँ गुण मैंने अग्नि से यह सीखा कि जैसे अग्नि में सुवर्ण डालो तो उसका मल तुरन्त नाश हो जायगा, इसी प्रकार ऐसे अवधूत यतियों को जो भिक्षा दे उसके पिछले और अगले सभी अशुभों को योगी नाश कर देता है। इसलिये अवधूत को सर्वत्र अन्न ग्रहण करके स्वच्छन्द विचरना चाहिये।

आठवाँ आत्मज्ञान भी मैंने अग्नि से ही प्राप्त किया।

राजा ने पूछा—"भगवन्! अग्नि से आत्मज्ञान आपने कैसे प्राप्त किया, कृपा करके उसे भी मुझे सुनाइये।"

महामुनि दत्तात्रेय बोले—"राजन्! मैंने एक दिन देखा एक लोहा है, वह लाल हो रहा है। मैंने लुहार से पूछा—"भाई, लोहा तो काला होता है, यह लाल क्यों है?"

उसने कहा—"ब्रह्मन्! इसमें अग्नि ने प्रवेश किया है, अग्नि के कारण यह लाल हो गया है। वह लोहा गोल था, अतः अग्नि भी गोल हो गये थे। फिर लकड़ी में भी अग्नि को प्रविष्ट होते देखा! जैसी लकड़ी थी वैसे ही बनकर अग्नि उसमें प्रविष्ट हो गये। एक लकड़ी टेढ़ी थी, अग्नि भी टेढ़े हो गये। एक लकड़ी गोल थी, अग्नि भी गोल हो गये, एक लकड़ी मोटी थी, अग्नि भी उसी के आकार के मोटे बन गये। तब मुझे ज्ञान हुआ कि अरे, जैसे भिन्न भिन्न उपाधियों में प्रविष्ट हुए अग्नि तद्-रूपता को प्राप्य होते हैं, वैसे ही यह विभु आत्मा भी अपनी माया से रचित इस सत् असद्रूप प्रपञ्च में प्रविष्ट होकर भिन्न भिन्न उपाधियों के अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टाओं को करता है। अग्नि

जैसे सर्वव्यापक होने पर भी उपाधि भेद से योनि के अनुगत होता है, वैसे सर्वव्यापक आत्मा भी पशु, पक्षी जलचर थलचर आदि अनेक योनि में उनके अनुरूप ही प्रतीत होने लगता है। मोक्ष की कामना वाले यति को अग्निदेव को गुरु बनाकर आत्मा की एकता की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। यह मैंने अग्नि से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं का संक्षेप में वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैंने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल तथा अग्नि से ग्रहण करने वाली शिक्षाओं के सम्बन्ध में तो सुन लिया, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि चन्द्रमा को गुरु बनाकर आपने क्या सीखा। शशि से आपने कौन सी सुन्दर सीख ली ?"

यह सुनकर अवधूत दत्तात्रेय बोले—"राजन्! चन्द्रमा से जो मैंने सीखा है उसे आपको बताऊँगा। चन्द्रमा से मैंने बहुत ही सुन्दर शिक्षा ग्रहण की है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे दत्तात्रेय महामुनि चन्द्रमा से ली हुई शिक्षा को बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप प्रेमपूर्वक इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

भेद भाव नहिँ करै अन्न सबई को खावै।
जामें प्रविसै अनल रूप ताके है जावै॥
लेवै शिक्षा यही आतमा सबके माहीं।
प्रविसै है तद्रूप लिप्त तिनमहँ सो नाहीं॥
लये आठ गुन अगिनि तैं, तातैं ते मम गुरु भये।
कहूँ तिनहिँ अब चन्द्र गुरु, करि तिनतैं जो गुन लये॥

चन्द्रमा से शिक्षा

[१२२७]

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

चन्द्र एकरस रहैं स्वय निजलोक प्रकाशित ।
कृष्णपक्ष महँ घटैं शुक्लमहँ बढ़ैं कला नित ॥
सोचै योगी जिही आतमा अजर अमर अज ।
मरन, जनम, अरु जरा मृत्यु तनके सब कारज ॥
छिन छिन पल पल जगत महँ, परिवर्तन होवै सतत ।
चलत रहत ताते कहत, जाकूँ सब मुनिजन जगत ॥

संसार में जो कुछ दीखता है, वह सबका सब परिवर्तनशील है। संसार में एक भी ऐसी वस्तु नहीं, जो सदा एक रस रहती हो। सब घूम रहे हैं, सब अपने स्थान से चल रहे हैं, सबमें निरन्तर

---

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! मैंने चन्द्रमा से यह शिक्षा ली कि अलक्ष्य गति वाले काल के प्रभाव से चन्द्रमा की कलायें ही घटती बढ़ती हैं, स्वयं चन्द्रमा नहीं घटता बढ़ता। इसी प्रकार जन्म से लेकर श्मशान तक जो अवस्थायें होती हैं। वे देह की होती हैं, आत्मा तो सदा एकरस है।"

परिवर्तन हो रहा हैं, किन्तु परिवर्तन इस ढँग से होता है कि उसका स्थूल दृष्टि से अनुभव नहीं होता। सभी जानते हैं ऋतुएँ परिवर्तित होती रहती हैं। गरमी के पश्चात वर्षा और वर्षा के पश्चात् जाड़ा आता रहता है। किन्तु हमे कुछ नूतनता नहीं दिखायी देती। वर्षा के पश्चात् तनिक-तनिक ठंड-सी लगने लगती है। हम गरमी को भूल जाते हैं, जाड़ा लगने लगता है। फिर जाड़ा कुछ कम होने लगता है। शनः शनैः वह चला जाता है, गरमी आ जाता है तो जाड़े को भूल जाते हैं। गङ्गाजी का जल प्रतिक्षण बदलता रहता है, किन्तु हम समझते हैं यह वही जल है जो हमने कल देखा था। इसी प्रकार हमारे शरीर का अणु-परमाणु प्रतिक्षण बदलता रहता है। प्रथम क्षण में जो हमने अपने मित्र देवदत्त को देखा था, दूसरे क्षण वह नहीं है, उसका सब शरीर बदल गया, किन्तु इसका हम अनुभव नहीं करते अनुभव कर लें तब तो यह निश्चय ही हो जाय, कि ये जितनी उपाधियाँ हैं, क्षणभंगुर, परिवर्तनशील तथा नाशवान् हैं और इन सबमें चैतन्य रूप से व्याप्त आत्मा नित्य है, शाश्वत है, अविनाशी है, अज है, जिसे ऐसा ज्ञान हो गया वही जीवन्मुक्त है, योगी है, ब्रह्मज्ञानी है।

सूतजी कहते हैं—महामुनियो! दत्तात्रेय से जब महाराज यदु ने चन्द्रमा से ली हुई शिक्षा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब अवधूत मुनि कहने लगे—"राजन्! चन्द्रमा से मैंने बहुत उत्तम शिक्षा ग्रहण की। अज्ञानी लोग समझते हैं, कि चन्द्रमा घटता बढ़ता रहता है। अमावस्या को चन्द्रमा रहता ही नहीं। प्रतिप्रदा को भी उसका अदर्शन रहता है। द्वितीया को छोटा-सा चन्द्रमा दिखाई देता है, तृतीया को बढता है, फिर इसी प्रकार बढते-बढते पूर्णिमा को पूर्ण हो जाता है। कृष्णपक्ष में फिर घटने लगता है, अमावस्या को घटते-घटते लुप्त हो जाता है, मर जाता

है। द्वितीया को पुनः प्रकट होता है। किन्तु ज्ञानी इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है चन्द्रमा तो न घटता है न बढ़ता है, वह तो अपने स्वरूप में ज्यों-का-त्यों बना रहता है, हाँ, उसकी कलायें घटती बढ़ती हैं। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक कला बढ़ी, द्वितिया को दो, तृतीया को तीन इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को उसकी सब कलायें पूर्ण हो जाती हैं। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से फिर एक-एक करके घटने लगती है। कलाओं के घटने-बढ़ने से चन्द्रमा तो घटता बढ़ता नहीं है। एक दीपक में तेल से भीगी बत्ती जल रही है। हम सब कहते हैं दीपक जल रहा है। वास्तव में दीपक तो नहीं जल रहा है, जल तो रही है बत्ती। बत्ती का तेल समाप्त हो जाता है तो वह बुझ जाती है। हम लोग कहते हैं दीपक बुझ गया। दीपक क्या बुझा वह तो जैसे पहिले था वैसे ही अब भी है, बुझी तो बत्ती ही। लोग कहते हैं, उसके गर्भ में बच्चा है, बच्चे का जन्म हुआ, अब वह कुछ बढ़ने लगा। बालक छोटा है, अब उसकी पौगंडावस्था हो गयी, अब किशोर हो गया, अब युवक बन गया, अब अवस्था बढ़ने लगी, अधेड़ हो गया, बूढ़ा हो गया, मर गया, स्मशान में ले जाकर जला दिया गया। अब विचारना यह है कि ये जन्म से लेकर मरण पर्यन्त इतनी दशायें हुईं, किसकी हुईं ? शरीर में एक तो चैतन्यांश है एक जडांश है। चैतन्य का ही नाम आत्मा है। जड़ का नाम देह है। यदि चैतन्य में ये सब परिवर्तन हुए तो वह चैतन्य हो ही नहीं सकता। चैतन्य तो सदा एकरस रहता है। उसमें तो परिवर्तन सम्भव नहीं। जहाँ परिवर्तन है वहाँ जड़ता है। किन्तु परिवर्तन तो होता ही है, इसलिए मानना पड़ेगा कि गर्भवास, जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, मरण आदि आत्मा में नहीं होते ये तो देह के धर्म हैं। देह घटती.बढ़ती रहती है, इससे आत्मा में कोई विकार

नहीं आता। इसलिये आत्मज्ञानी को चन्द्रमा से शिक्षा लेकर देह के परिवर्तन को अपने में मानकर दुखी सुखी न होना चाहिये। काल का प्रवाह प्रतिक्षण बदलता रहता है, किन्तु वह प्रतीत नहीं होता। परिवर्तन सहसा नहीं होता, प्रतिपल होता रहता है, किन्तु हमें अनुभव तब होता है, जब अधिक परिवर्तन हो जाता है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन! परिवर्तन तो नित्य दिखायी देता नहीं। एक हमारा लडका है आज हमने उसे देखा है, कल भी वह जैसा का तैसा बना रहता है। बालक से जब बड़ा होता है, युवक होता है, तब उसमें परिवर्तन प्रतीत होता है।"

अवधूत मुनि बोले—"नहीं, राजन्! परिवर्तन तो निरन्तर ही होता रहता है। जैसे नदी का प्रवाह है, कभी रुकता है? हम अभी जल में स्नान कर रहे हैं, पलभर पहिले हमारे शरीर से जिस जल का स्पर्श था दूसरे ही पल न जाने वह कहाँ चला गया। इसी प्रकार यह संसार का प्रवाह अनादि काल से चल रहा है, इसमें स्थिरता नहीं, गम्भीरता नहीं, एकरूपता नहीं। यह तो ऐसे ही चल रहा है, चलता रहेगा। देखो, अग्नि की शिखायें क्षण क्षण में उत्पन्न होती हैं और क्षण क्षण में नष्ट होती हैं। इतने काल से दीपक जल रहा है, हम समझते हैं एक ही लोय जल रही है, किन्तु जाने कितनी लोयें निकलकर नष्ट हो चुकीं। जैसे जो जल के बिन्दु बह जाते हैं, उनका स्थान उसी क्षण दूसरे जल बिन्दु ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार असंख्यों जीव मरते रहते हैं, असंख्यों फिर जन्मते रहते हैं। यह जन्म-मरण का प्रवाह नदी के उद्गम स्थान की भाँति अनादि काल से प्रवाहित हो रहा है। अज्ञानी लोग इस रहस्य को समझते नहीं, वे देह को ही आत्मा मानकर व्यवहार करते हैं और इस क्षण-भंगुर संसार की घटनाओं के कारण सुखी दुखी होते हैं। अरे,

इस मरणशील संसार में कोई मर गया तो उसका क्या शोक ? आत्मा की तो कभी मृत्यु होती नहीं, शरीर का जन्म हुआ तो उसका मरण ध्रुव है। चार सोने चाँदी के ठीकरे कल हमारे पास थे आज उसके पास चले गये, इसमें राग द्वेष की कौन-सी बात है। उन ठीकरों को न तो वह ही साथ बाँधकर ले जायगा न हम ही। वे तो जहाँ के तहाँ पड़े रहेंगे। मिट्टी से निकले हैं मिट्टी में मिल जायँगे। अनित्य नाशवान् पदार्थों में ममता करके जानबूझकर जन्म मरण के चक्कर में फँसकर अज्ञान को अपने मत्थे मढ़ लेना यह कौन सी बुद्धिमत्ता है। अतः ज्ञानी को सदा स्मरण रखना चाहिये, कि जैसे चन्द्रमा की कलाओं के घटने बढ़ने से चन्द्रमा के निज स्वरूप में कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार शरीरों के परिवर्तन से आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। आत्मा सदा एकरस, नित्य, निरंजन और निष्कल है। शरीरों के साथ उसका वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं।"

इस पर महाराज यदु ने कहा—"भगवन् ! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि और चन्द्रमा से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं को तो वर्णन किया, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने सूर्यनारायण को गुरु बनाकर उनसे क्या शिक्षा ग्रहण की ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन् ! सूर्य से ग्रहण की हुई शिक्षा का अब मैं आपसे वर्णन करता हूँ, इसे आप समाहित चित से श्रवण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब सूर्य से ग्रहण की हुई शिक्षा को श्रवण कीजिये।"

छप्पय

अग्नि शिखा छिन माहिँ प्रकट ह्वैकें छिप जावे।
एक नष्ट ह्वै जाय दूसरी तत्छिन आवे॥
जल उद्गम तें निकसि बहे फिरि नूतनि पुनि-पुनि।
वहै ग्रहन तब करै याग पुनि बीते बिन्दुनि॥
जग परिवर्तनशील है, असत् अभद्र अनित्य है।
परिवर्तन तनमहँ सकल, आत्मा चेतन नित्य है॥

सूर्य से शिक्षा

[१२२८]

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ५० श्लोक)

छप्पय

अब जो शिक्षा लई सूर्य तैं ताहि सुनाऊँ ।
गुरु सूरज च्यौं कर्यो हेतु ताको समुझाऊँ ॥
निज किरननि तैं खींचि सलिल ग्रीषम महँ लेवे ।
बरषा महँ बरसाइ फेरि प्रानिनि कूँ देवे ॥
इन्द्रिनितैं स्वीकार कें, त्यौं हीं त्रिगुन पदार्थ सब ।
समय पाइ त्यागत तुरत, होहि न हर्ष विषाद तब ॥

जो नदी बहती रहती है, उसका जल स्वच्छ स्वादिष्ट और सुस्वादु होता है। जो जल घिरा रहता है, निकलता नहीं सड़ जाता है। वृद्धि त्याग से होती है। जो जितनी ही बड़ी वस्तु का

---

* अवधूत दत्तात्रेय कह रहे हैं—"राजन्! जिस प्रकार अपनी किरणों से जल को सोखकर सूर्यनारायण समय आने पर उसे बरसा देते हैं, उसी प्रकार गुणों का अनुवर्तन करने वाली इन्द्रियों के द्वारा त्यागी योगी इन त्रिगुणमय पदार्थों को ग्रहण करता है और समय आने पर उनका त्याग भी कर देता है, किन्तु उसमें लिप्त नहीं होता।"

त्याग करेगा, उसे उससे भी बड़ी वस्तु मिलेगी। जो ग्रहण तो करता है, किन्तु उसका त्याग नहीं करता, उसे पेट में ही भरे रखता है, तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता। कोई वस्तु-निर्माण शाला है, उसमें एक ओर से कच्चा माल आता रहे। और दूसरी ओर से निर्माण होकर निकलता रहे, तब तो उसकी अभिवृद्धि हो सकती है। इसके विपरीत कच्चा माल आता रहे, किन्तु उसमें से बनकर तैयार माल निकले नहीं वहाँ का वहीं, एकत्रित होता रहे, तो वह शाला कितने दिन चलेगी! उसका पतन अनिवार्य है। इसी प्रकार मुमुक्षु निरपेक्ष होकर इन मायिक पदार्थों का जब तक त्याग न करेगा, तब तक उसकी उन्नति न होगी, उसकी अभिवृद्धि न होगी, वह जन्म मरण के चक्कर में घूमता रहेगा और अपने महान लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा यदु ने जब सूर्य से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब अवधूत मुनि बोले—"राजन्! सूर्य से मैंने अनासक्तता और आत्मा की अपरिच्छिन्नता ये दो गुण सीखे हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इन दोनों को स्पष्ट करके भली भाँति समझाइये।"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! सूर्यनारायण का काम है कि वे समुद्रों से, नदियों से, वापी, कूप-तडागादि जलाशयों से तथा सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों से अपनी किरणों द्वारा जल खींचते रहते हैं। पृथ्वी से जल को लेते रहते हैं। लेकर यह नहीं कि उसे अपने पास रखे रहें, किन्तु जब वर्षा का समय आता है तो दश महीनों के संग्रह किये जल को दो ही महीनों में बरसा देते हैं, उसे संग्रह करके रखते नहीं। पृथ्वी से ग्रहण किये हुए जल को पृथ्वी ही को लौटा देते हैं। उस जल से भूमि शस्य-श्यामला बन जाती है, पशुओं के लिये घास हो जाती है, पक्षियों

के लिये फल आदि हो जाते हैं और मनुष्यों के लिये अन्न आदि उत्पन्न हो जाते है। सूर्य को इस त्याग से दुःख नहीं होता परम हर्ष हो जाता है। क्वार कार्तिक के सूर्य कितने स्वच्छ और निर्मल होते हैं। इससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की, कि योगी को कभी भी किसी वस्तु को संग्रह करने की भावना मन में न लानी चाहिये। यह शरीर तो त्रिगुणात्मक है। जिन वस्तुओं से बना है, उनसे ही इनकी रचा होती है। जैसे मिट्टी का घर है, उसकी रक्षा के लिये मिट्टी से ही उसे लोपा पोता जाता है। ईंट चूना का बना घर है, तो उसे चूने से ही व्हेस कर सुरक्षित रखा जाता है। इसी प्रकार यह शरीर अन्न के विकार रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि से ही बना हुआ है, इसकी रक्षा के लिये अन्न अत्यावश्यक है। त्रिगुणात्मक शरीर तोनो गुणों में अनुवर्तन करने वाली इन्द्रियों द्वारा परिचालित है। योगी समय-समय पर इन्द्रियों से पदार्थों को ग्रहण तो कर ले, किन्तु समय आने पर उनका त्याग भी कर दे। अर्थात् उनमें आसक्त न हो। ये समझे कि ये गुण गुणों में वर्त रहे हैं। गुणानुवर्तिनी इन्द्रियाँ त्रिगुणमय पदार्थों को ग्रहण करती हैं, मैं तो इन सब प्रपञ्चों से पृथक हूँ। इस प्रकार न तो ग्रहण करने में हर्ष हो न त्यागने में विषाद हो। यह अनासक्तता की शिक्षा मैंने सूर्यनारायण से सीखी, अतः वे मेरे गुरु हैं।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आत्मा की अपरिच्छिन्नता की शिक्षा आपने सूर्य से कैसे ली?"

महामुनि अवधूत दत्तात्रेय बोले—"राजन्! एक दिन मैंने देखा-सहस्रों जल के भरे पात्र रखे हुए थे, उनमें बहुत से छोटे थे, बहुत से बड़े थे, बहुत से हरे रँग के जल के थे, बहुत से पीले रँग के तथा अनेकों अनेक रँग वाले थे। मैंने देखा उन सब में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। छोटे में छोटे सूर्य दिखायी देते हैं, बड़े में

बड़े। जो पात्र जिस रंग के जल से भरा हुआ था, उसमें सूर्य भी उसी के रग के-से दिखायी देते थे। तब मुझे ज्ञात हुआ अरे, इसी प्रकार आत्मा भी एक है और अपरिच्छिन्न है। भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण ही स्थूल बुद्धि वालों को आत्मा व्यक्ति विशेष मे स्थित सी प्रतीत होती है और उपाधियों के ही सम्बन्ध से तू-तेरा मैं-मेरा का भेदभाव दिखायी देने लगता है। हाथी की देह में आत्मा स्थूल दिखायी देती है, चींटी के देह मे सूक्ष्म और पृथक्। ऐसा द्वैधी भाव तथा परिच्छिन्नता का विचार अज्ञानी ही करते हैं। जैसे सूर्य आकाश मडल मे एक ही स्थित होने पर भिन्न भिन्न पात्रों मे भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा भी सबमें भिन्न भिन्न प्रतीत होती है। वह किसी व्यक्ति विशेष मे स्थित भी नहीं, अद्वय तथा अपरिच्छिन्न है। य दो शिक्षायें मैंने सबके कर्मों के साक्षी तेज की राशि सूर्यनारायण से ग्रहण की।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं को हमने आपके श्रीमुख से सुना। अब हम यह और सुनना चाहते हैं कि आपने कबूतर से कौन सी शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रश्न को सुनकर महामुनि दत्तात्रेय हँस पड़े। अब वे जैसे कपोत स ग्रहण की जाने वाली शिक्षा को कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जल पात्रनि महँ पृथक् सूर्य बहु रूप लखावैं।
टेढ़े मेढ़े गोल पात्र अनुरूप दिखावैं॥
प्रतिबिम्बित लखि अज्ञ पात्रमहँ रविहिँ जनावैं।
कहैं अज्ञ परिछिन्न बहुत कहि ताहि बतावैं॥
सूर्य बिम्ब सम मुनि कहैं, आत्मा अद्वय सर्वगत।
अब कपोत तैं लयो गुन, कहूँ ताहि नृप देउ चित॥

कपोत से शिक्षा

[१२२६]

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ५२ श्लोक)

छप्पय

काऊ बनके सघन वृक्षपै रहै कबूतर ।
पत्नी ताकी रूपवती गुण तामें सुन्दर ॥
करैं परस्पर प्रेम राग नव नित्य बढावें ।
मिलि जुलि सँग सँग फिरें संग में सोवैं खावें ॥
कछुक काल में चार सुत, जने नेह दम्पति करैं ।
शिशु कलरव कोमल परस, तें दोउनिके हिय भरैं ॥

जिस बत्ती में जितना ही स्नेह—चिकनापन—होगा वह उतने ही अधिक काल तक जलेगी। इसी प्रकार संसार में दुःख का कारण है मोह, ममता, आसक्ति, अनुराग तथा अपनापन। जिसमें जितना ही अधिक अनुराग होगा, उसके वियोग में उतना ही अधिक कष्ट होगा। इसलिये सीताजी न रावण के हर ले जाने पर लंका में श्रीरामचन्द्रजी के वियोग में विलाप करते

* महामुनि दत्तात्रेय कह रहे है— "राजन् ! किसी के साथ अत्यंत स्नेह अथवा अत्यन्त प्रसंग कभी न करना चाहिये। जो ऐसा करता है उसे कृपण बुद्धि कबूतर की भाँति अत्यन्त सन्तापित होना पडता है।"

हुए बड़े ही मर्मस्पर्शी कारुणिक वचन कहे हैं। उन्होंने कहा—"वे वनवासी त्यागी, तपस्वी, वीतरागी महात्मा ही धन्य हैं, जिनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। जिन्हें प्रिय के संयोग में कोई विशेष हर्ष नहीं, वियोग में कोई विषाद नहीं। यही दशा अप्रिय के मिलन में भी हो अर्थात् उनके लिये प्रिय अप्रिय का भेद भाव ही नहीं। जो ऐसे वीतरागी महात्मा हैं उनको मैं प्रणाम करती हूँ।" सारांश यह है कि हम व्यक्ति या वस्तु के वियोग या सयोग के कारण दुखी-सुखी नहीं होते, उसमें जो एक प्रकार का राग हो जाता है, दुःख-सुख का कारण यही है। कोई व्यक्ति है वर्षों से हमारे साथ है, वह बीमार हो, दुखी हो, हमें उसका पता भी नहीं। शनैः-शनैः उसके प्रति राग हो जाय तो उसके दुःख में दुखी होना पड़ता है। और उसके क्षणभर के वियोग में मर्मान्तिक दुःख होता है। इसलिये विरागियों को कभी किसी से विशेष अनुराग न करना चाहिये, एकाकी स्वच्छन्द होकर विचरण करे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! महाराज यदु के पूछने पर अवधूत शिरोमणि भगवान दत्तात्रेय कपोत से ली हुई शिक्षा का वर्णन कर रहे हैं। वे बोले—"राजन! कबूतर से मैंने बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण की। कबूतर को गुरु बनाकर ही मैं यथार्थ में वैराग्यवान् बन सका।"

राजा ने कहा—"क्या शिक्षा ग्रहण की महाराज!"

अवधूत मुनि बोले—"राजन! असंगता और विरागता मैंने कबूतर से सीखी। जिसके प्रति हमारा राग होगा, आँख मूँदकर उसका हमें अनुसरण करना होगा। जिसके प्रति अपना अत्यधिक अनुराग हो जाता है उसकी कोई भी बात बुरी नहीं लगती। बुरी वही वस्तु लगेगी जो हमें रुचिकर न हो। राग तो चित्त का धर्म है। अनुराग में दोष दृष्टि के लिये स्थान ही नहीं। हम जो

किसी से प्रेम करते हैं, वह प्रेम बाहर की वस्तु में नहीं है वह तो हमारे भीतर का अनुराग है। जैसे दर्पण में हमें अपना प्रतिविम्ब दिखायी देता है वह दर्पण में रखा थोड़े ही है, अपना ही मुख दिखायी देता है। यदि दर्पण में हमारा ही मुख रखा होता तो फिर उसमें सबको हमारा ही मुख दीखता। किन्तु बात ऐसी है नहीं। जो भी उसके सामने आवेगा उसी का रूप उसमें दिखायी देगा। कोई हमारे चित्त पर चढ़ गया है मन में समा गया है तो वह कुरूपी भी होगा तो सुरूप दिखायी देगा। क्रोधी भी होगा तो उसका क्रोध अमृत से भी मीठा दिखाई देगा। अच्छाई बुराई वस्तुओं में नहीं हुआ करती यह तो अपने मन का धर्म है। जिसे हम बुरा कहते हैं दूसरे उस पर प्राण देते हैं, जिसे हम अत्यंत अच्छा बताते हैं, दूसरे उसे ही सबसे अधिक बुरा बताते हैं। राग द्वेष अन्तःकरण के धर्म हैं। जो एक से राग करेगा उसे दूसरे से द्वेष भी करना होगा। जिसके प्रति हमारा राग है. उसके बीच में कोई दूसरा व्यक्ति आ जाता है, तो उसके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये अपनी आँखों से कबूतर की घटना को देखकर मैं इसी परिणाम पर पहुँचा, कि किसी के साथ कभी भी अधिक स्नेह अथवा अधिक संग न करना चाहिये। जो किसी से अधिक अनुराग करता है उसे उसके आगे दीन होना पड़ता है, उसके पैर पकडने पड़ते हैं, उसके रुख को देखकर व्यवहार करना पड़ता है। किसी बात से उसे क्लेश न हो इसका पग-पग पर ध्यान रखना पड़ता है। आसक्ति से ही मनुष्यों में दीनता आ जाती है। वह सिंह से सियार बन जाता है। अन्त में उसे तड़प-तड़प कर मरना पड़ता है, जैसे मैंने अपने सम्मुख कबूतर को तड़प-तड़प कर मरते देखा था। तभी मुझे विराग हुआ और उसे अपना गुरु मान लिया।"

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने कबूतर को कहाँ

मरते देखा ? वह कबूतर कौन था, कहाँ रहता था, किससे उसने अनुराग किया और अन्त मे क्यों उसे मरना पड़ा ? कृपा करके इस प्रसङ्ग को मुझे सुनाइये।"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं आपको इस इतिहास को सुनाता हूँ। इससे आपको विदित हो जायगा कि अत्यन्त आसक्ति का अन्ति परिणाम क्या होता है।"

एक सघन वन में सुन्दर छायादार फल पुष्पो से समन्वित एक वृक्ष था। उसपेड पर एक कबूतर ने अपना घोंसला बना लिया था। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उसे एक सुन्दरी कबूतरी भी मिल गयी थी। कबूतरी का रङ्ग हस के समान स्वच्छ था, उसके लाल-लाल दोनों पैर बड़े ही आकर्षक थे। कबूतर ने अपना समस्त हृदय का स्नेह उसी के ऊपर उडेल दिया। उसने कबूतरी को आत्म-समर्पण कर दिया, वह उसके प्रेमपाश मे बँध गया। इधर कबूतरी ने भी अपने प्रियतम को अपना हृदय सौंप दिया। दोनों ही परस्पर स्नेह-सूत्र मे दृढ़ता के साथ आबद्ध हो गये। वे जब परस्पर मे एक दूसरे की ओर देखते—दृष्टि से दृष्टि मिलाते—तो उनका हृदय बाँसों उछलने लगता। हृदय मे एक ऐसी मीठी-मीठी गुदगुदी पूर्ण मनभावनी वेदना होती, जिसका वर्णन करना असम्भव है। एक दूसरे की ओर निहार कर वे आनन्दमग्न हो जाते, इस संसार को भूल जाते। जब वे दोनों एक दूसरे से सटकर एक आसन पर घोसला में बैठते तो उनके रोम-रोम खिल जाते, दोनों के पख फूल जाते। उनका अङ्ग-से-अङ्ग तथा मन से मन सदा मिला रहता। जिसके प्रति अनुराग हो जाता है उससे तनिक भी सकोच नहीं होता। परस्पर मे दोनो ही शरीरो को वे अपने ही समझने हैं। कबूतर और कबूतरी में अत्यन्त सम्बन्ध होने से निरन्तर साथ रहने से, परस्पर मे प्रेम हो जाने से वे ऐसे हिलमिल गये थे, कि उन्हें पल भर को भी एक दूसरे से पृथक

होना असखरता था। वे साथ-ही-साथ बैठते थे, साथ-ही-साथ घूमने फिरते थे, एक कहीं ठहर जाता तो दूसरा भी वहाँ ठहर कर उसकी प्रतीक्षा करता। साथ-साथ वे उठते थे, साथ साथ चुगने जाते थे, साथ साथ लौटकर आते थे, साथ-साथ सोते थे। सारांश यह कि उन्हें कुछ काल को भी एक दूसरे से वियोग होना असह्य था। परस्पर में दोनों मिलकर प्रेमभरी, अनुराग भरी-अनुराग में पगी-बातें करते। एक दूसरे को अपनी चोंच में खिलाते। परस्पर में चोंचों से एक दूसरे के अंगों को सुहलाते। इस प्रकार निरन्तर संग रहने से उन दोनों को परस्पर में अत्यधिक आसक्ति हो गयी। कबूतर सर्वथा उस कबूतरी के वश में हो गया, क्योंकि उसने अपनी इन्द्रियों को जीता नहीं था, वह अजितेन्द्रिय था, उस कबूतरी को ही प्रसन्न रखना उसने अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया था।

कबूतरी कहती—"मुझे अमुक पेड़ से अमुक फल चाहिये, अमुक वस्तु चाहिये तो वह अत्यन्त कष्ट सहकर भी उस वस्तु को विपुल परिमाण में लाकर उसे देता और उसकी अभीष्ट वस्तु को देकर वह एक प्रकार की आन्तरिक तृप्ति का अनुभव करता। इस प्रकार एक दूसरे के प्रेम में फँसकर उस पेड़ पर रहते हुए उन्हें कई वर्ष बीत गये।"

छोटे से बीज में से वृक्ष की रचना कर देते हैं, इसे कोई देख नहीं सकता। यह सब उनकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से ही स्वतः होता रहता है। उसी श्रीहरि की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से अंडों के भीतर जो एक द्रव पदार्थ था उसमें से पैर चौंच तथा पक्षियों के अन्य अङ्ग बन गये। समय आने पर वे अंडे अपने आप फूट गये। उनमें से चार अत्यन्त ही कोमल बच्चे निकल आये। उनके रोम अत्यन्त ही कोमल थे। वे नेत्र बन्द किये पड़े रहते। कलान्तर में उन्होंने नेत्र खोले, पंख निकल आये और वे चॉऊँ-चॉऊँ ऐसा सुन्दर शब्द करने लगे। बालकों की तोतरी बोली मिश्री और मधु से भी अत्यन्त मीठी लगती है। उस शब्द को सुनकर सभी का चित्त खिल उठता है, विशेषकर जिनका उनमें अपनापन होता है, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।"

कबूतर कबूतरी उन सुन्दर सुकुमार सलौने सुतों के सरस शब्द सुनकर आनन्द में विभोर हो जाते और अपने जीवन को धन्य मानते। इस प्रकार बड़े ही स्नेहपूर्वक उन बच्चों का लालन पालन करने लगे। अब बच्चे कुछ-कुछ बड़े हो गये थे, वे घोसले से निकलकर कुछ दूर बाहर फुदकते भी थे, चॉऊँ-चॉऊँ करते माता-पिता के अङ्गों से लिपट जाते, अपनी कोमल चौंच को उनकी चोंच में सटा देते, उनके ऊपर चढ़ जाते। आपस में किलोलें करने लगते। इस प्रकार उनकी सुखद सरस बालसुलभ चेष्टाओं से माता-पिता का हृदय भर आता और वे बार-बार उन्हें पुचकारने, मुँह चूमते और छाती से चिपकाकर सटा लेते।

वे दोनों भगवान् की मोहमयी माया में ऐसे फँस गये थे, कि दोनों को निरन्तर उन बालकों के पालन-पोषण की ही चिन्ता बनी रहती। दूसरी बात उनके मन में आती नहीं थी। बच्चों को कोई श्येन, बिल्ली या गीध आकर खा न जाय, आज इनका

पेट नहीं भरा, ये भूखे होंगे, कहीं ये गिर न पड़ें, इत्यादि भाँति-भाँति की चिन्ताओं में निमग्न हुए वे समय को बिताने लगे। अब बच्चे कुछ बड़े हो गये थे, स्वय घोंसले से निकल कर दानों को चुगने भी लगे थे। इसलिये माता पिता अब निश्चिन्त से हो गये थे। पहिले कबूतरी तो बच्चों के पास रहती थी, कबूतर इधर उधर से दाना एकत्रित करके लाता था। कबूतर को स्वय भी दाना चुगना होता था और चार बच्चों के लिये तथा उनकी माता के लिये भी लाना पड़ता था, इससे उसे कई बार जाना पड़ता।

एक दिन कबूतरी ने कहा—"प्राणनाथ! अब बच्चे बड़े भी हो गये हैं, आपको श्रम भी अधिक करना पड़ता है और फिर इतने समय का वियोग भी हो जाता है। मैं भी आपके साथ चुगा चुगने को चला करूँगी।"

कबूतर ने कहा—"प्रिये! कष्ट तो वहाँ होता है जहाँ विवश होकर दूसरों का काम करना होता है। अपने काम में कष्ट होता तो स्त्रियों को बच्चों के पालन पोषण और दूध पिलाने में तो अत्यन्त ही कष्ट होता है। किन्तु मातायें इसमें कष्ट का अनुभव नहीं करती, प्रत्युत इन कामों के करने में उन्हें सुख होता है। कष्ट तो तब होता है जब इच्छा न रहने पर दूसरों के बच्चों के लिये ये काम करने पड़े। जिनमें अपनापन है उनकी सेवा करने में बड़ा सुख होता है मैं अपने ही बच्चों के लिये तो दाना एकत्रित करके लाता हूँ, यह तो मेरा कर्तव्य ही है।"

कबूतरी ने कहा—"प्राणनाथ! भार्या को अर्धाङ्गिनी बताया है। सत्पत्नी कभी भी यह नहीं स्वीकार कर सकती, कि उसकी शक्ति रहते पति को कष्ट हो। अब तक मैं असमर्थ थी, आपके काम में हाथ बँटा नहीं सकती थी। अकेले आपको छे प्राणियों का भोजन एकत्रित करना पड़ता था। अब तो स्वस्थ हो गयी हूँ,

बच्चे भी बड़े हो गये हैं, आपके कंधे से कंधा मटाकर मैं आपके काम में सहयोग दूँगी।"

कबूतर ने बहुत मना किया किन्तु कबूतरी मानी नहीं, वह उसके साथ साथ दाना चुगने को जाने लगी। पुत्रों पर पिता की अपेक्षा माता की ममता अधिक होती है, अतः कबूतरी शरीर से चली जाती, किन्तु उसका मन बच्चों में ही फँसा रहता। सायंकाल को आकर वह अपने बच्चों को भर पेट प्यार करती, अपनी चोंच में उनकी चोंच को सटाकर दाने खिलाती।

एक दिन की बात है, कि वे दोनों कबूतर कबूतरी आहार की खोज में बहुत दूर निकल गये। उस दिन संयोगवश उन्हें यथेष्ट चारा नहीं मिला, वे बड़ी देर तक इधर से उधर वन में भटकते रहे।

इधर उस वन में एक बहेलिया रहता था। उसने उन छोटे-छोटे बच्चों को दाना चुगते देखा था। वह कई दिन से उनकी घात में था। जब उसने देखा कबूतर कबूतरी तो दूर चले गये हैं, तो उसने उस पेड़ के नीचे जाल बिछा दिया और सुन्दर सुन्दर दाने उसमें छिड़क दिये। वे बच्चे तो भोले भाले थे। बच्चों को नया काम करने में बड़ा उत्साह होता है, वे कोई अद्भुत काम करके माता पिता को चकित करना चाहते हैं, उनसे प्रशंसा सुनने को उत्सुक रहते हैं। पेड़ पर से जब बच्चों ने दाने देखे, तो वे शीघ्रता से उतरकर नीचे आये। ज्यों ही वे उन दानों को उठाने लगे, त्यों ही वे चारों जाल में फँस गये और तड़फड़ाने लगे।

सायंकाल हुआ। कबूतर कबूतरी अत्यन्त उत्सुकता से बच्चों का ही स्मरण करते हुए उन्हीं के भोजन की चिन्ता में निमग्न अपने घोंसले के समीप आये। वहाँ आकर उन्होंने जो देखा, उसे देखकर तो उनका हृदय फटने लगा। चारों बच्चे जाल में फँस रहे थे। वे पैरों को निकाल नहीं सकते थे। पखों को बार-

चार फटफटा रहे थे। अत्यन्त करुणाभरी वाणी में बड़े दुःख के साथ चेंऊँ चेंऊँ करते हुए चिल्ला रहे थे। कबूतरी पर अपने बच्चों
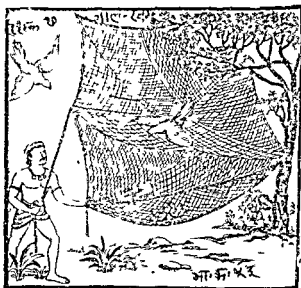
का दुःख नहीं देखा गया। ज्यों ही वह दुखित होकर विलाप करती हुई बच्चों से मिलने गयी, त्यों ही वह भी जाल में फँस गयी। वह निरन्तर बच्चों का ही स्मरण करती रहती थी, उनके ही विषय में सोचती रहती थी, उन्हीं के प्रेमपाश में बँधकर सब काम करती। दैवमाया से दीनचित्त बनी उस कबूतरी की गति मति में वे बच्चे ही थे। वह उनके दुःख से ऐसी विमूढ़ा बन गयी कि अपने बन्धन को भी न स्मरण कर सकी। इस प्रकार चार बच्चे और उनकी माता कबूतरी पाँचों ही उस जाल में फँसकर विलाप करने लगे।

अब तो कबूतर की बुरी दशा थी। अपनी प्राण-प्रिया को तथा हृदय के खंड उन परम प्रिय बच्चों को एक साथ ही मृत्यु के मुख

में जाते देखकर वह पछाड खाकर गिर गया। वह अत्यत दुःख में विलाप करता हुआ कहने लगा—"हाय ! आज मेरे भाग्य फूट गये, मेरे पुण्य पूरे हो गये, सुकृत समाप्त हो गये। मैं तो अभी ससार सुख से तृप्त भी नहीं हुआ था। मेरे बच्चे न बडे हुए न किसी का विवाह हुआ, मैंने पुत्रवधू तथा नाती का मुँह भी नहीं देखा, अभी तो मेरे बच्चे भली भाँति उड भी नहीं सकते थे। अपने आप खा भी नहीं सकते थे। इसा बीच में देव ने मेरी ऐसी दुर्दशा कर दी। मेरे केसे सुख से दिन कट रहे थे। मरा गृहस्थ धर्म कितने सुख से चल रहा था। गृहस्थाश्रम धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग का मूल है। मेरा सर्वस्व लुट गया, बना बनाया घर बिगड गया। मेरे बच्चे मृत्यु के मुख मे जा रहे हैं। मेरे हृदय को यह व्याधा मेरी आँखों के सम्मुख मरोडना चाहता है। गृहस्थ धर्म की मूल पत्नी ही हे, इसीलिये पत्नी को गृहलक्ष्मी बताया हे। पत्नी चाहे केसी भी क्यों न हो वह घर की शोभा हे, उसके रहने से घर के द्वार खुले रहते हैं, आगत अतिथि अभ्यागत का स्वागत होता हे। लडै, झगडै, कलह कर कुछ भी क्यों न करे अपनी पत्नी अपनी ही हे। इसीलिये बुद्धिमान् लोग कर्कशा पत्नी का भी परित्याग नहीं करते। फिर जिसकी पत्नी पतिव्रता है, पति परायणा हे, सुशीला सुन्दरी और पति की आज्ञाकारिणी है, तो फिर उसके भाग्य का तो पूछना ही क्या। उसके लिये तो स्वर्ग वेकुण्ठ सब यहीं हे। मेरी पत्नी पतिव्रता है, अनुकूला है, अनुरूपा हे तथा आज्ञाकारिणी है। हाय ! मेरी प्यारी पत्नी भी रहती, तो मैं किसी प्रकार धैर्य भी धारण करता, किन्तु वह भी अपने बच्चों के सहित मुझे छोडकर स्वर्ग सिधार रही है। अब मैं इस सूने घर म अकेला रहकर क्या करूँगा। यहाँ की सब वस्तुएँ मुझे काटने दौडेंगी। इस स्थान के कण कण में मेरी प्रिया की अनन्त स्मृतियाँ निहित हैं। यहाँ मैं अपनी पत्नी के साथ

बैठता था, यहाँ क्रीडा करता था। यहाँ हम प्रथम ही प्रथम मिले। यहाँ उसने अडे दिये। इस प्रकार यहाँ का वातावरण मेरी प्रिया के संस्मरणों से ओत प्रोत हो रहा है। जिस स्थान में इतनी सुखद घडियाँ बितायीं अब उसी स्थान में मैं अपनी पत्नी से पृथक् होकर कैसे रह सकूँगा, यह कठिन ही नहीं असम्भव है। मेरे नेत्रों के सम्मुख मेरे प्यारे मुनमुने बच्चों के सहित मेरी प्राणप्रिया स्वर्ग सिधार रही है और मैं जीवित होकर इस दृश्य को देख रहा हूँ, मेरे ऐसे जीवन को धिक्कार है। ससार में स्त्री का विधवा होकर जाना और पुरुष का स्त्री हीन विधुर होकर जीना व्यर्थ है। जिस घर में घरवाली ही नहीं, तो उससे अच्छा तो अरण्य है। प्राणी किसी न किसी आशा से जीवित रहता है। कोई धनकी आशा से, कोई सतान की आशा से, कोई विवाह की आशा से, कोई वैभव ऐश्वर्य तथा पद प्रतिष्ठा की आशा से जीता है। जिसकी पत्नी ही नहीं रही उसका शून्यगृह में जीना न जीने के सदृश है। अब मुझे भी इनके साथ प्राण दे देने चाहिये।

अवधूत महामुनि राजा यदु से कह रहे हैं–"राजन्! यह सब दृश्य मैंने अपनी आँखों से देखा था। मैं जब कभी उस वृक्ष के नीचे से निकलता तो कबूतर कबूतरी को किल्लोल करते पाता। फिर मैंने उनको बच्चों के साथ क्रीडा करते हुए भी देखा था। आज बच्चों को जाल में फँसे और उससे छूटने के लिये प्रयत्न करते परों को फटफटाते तथा तडपते भी देखा। बच्चे तडप रहे थे। कबूतरी करुणा भरी दृष्टि से उनकी ओर निहार रही थी, वह स्वयं भी जाल में फसी थी, अपने बच्चों की कुछ सहायता भी नहीं कर सकती थी। समीप में कबूतर रो रहा था, विलाप कर रहा था, अपने को धिक्कार रहा था–तथा मरने का विचार कर रहा था। मैं कुछ देर खडा रहा। कबूतर का दुःख पराकाष्ठा

पर पहुँच चुका था। वह अपनी प्राणप्रिया, स्नेहमयी तथा अपने अनुकूल वर्ताव करने वाली पत्नी के वियोग को सह नहीं सकता था, अतः वह अत्यन्त दीन विवेकहीन होकर जानबूझकर उस जाल में कूद गया और फँस गया। समीप मे ही छिपकर बैठा बहेलिया इस दृश्य को देख रहा था, उसे तो यह अभीष्ट ही था। जब उसने देखा कबूतर कबूतरी तथा उसके सब बच्चे जाल मे फँस गये, तो वह परम प्रसन्न हुआ। उसने अपना जीवन सफल समझा। अपने परिश्रम को उसने सार्थक माना। एक साथ छै पक्षिया को पाकर अपने को कृतकृत्य अनुभव करता हुआ जाल के समीप गया, पक्षियों को पकड़कर उनका सिर मरोड़कर अपनी झोली में रख लिया और जाल को कन्धे पर रखकर अपने घर की ओर चल दिया।"

अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन् कबूतर की इस स्वेच्छा मृत्यु से मुझे बड़ा विराग हुआ। मैंने सोचा—"देखो, यह प्राणी अपने आप तो मोह का जाल बिछाता है। किसी को अपनाता है, प्यार करता है और पीछे स्वय ही दुःख पाता है। यह मोह का ऐसा सुदृढ जाल हे कि इसमे जो एक बार फँसा फिर उसका निकलना कठिन ही नहीं असम्भव बन जाता है। जो व्यक्ति कुटुम्ब मे अत्यन्त आसक्त होकर अविवेकी बन जाता है, उसका, चित्त सदा अशान्त बना रहता हे। वह निरन्तर सुख दुःख, जीवन मरण तथा हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों मे जकड़ा रहता है और कुटुम्ब के भरण-पोषण को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसी में संलग्न रहता है। वह कभी सुखी नहीं होता। पक्षी की भाँति पग-पग पर पछताता रहता है। अन्त में उसे मृत्यु के मुख मे जाना पड़ता है। अतः मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि कभी भी किसी को किसी के साथ भूलकर भी अत्यन्त स्नेह न करना चाहिये। उसके ऊपर लट्टू न हो जाना चाहिये। जो इस शिक्षा

की ओर ध्यान नहीं देता, किसी के चक्कर मे फँस जाता है, किसी के स्नेह-बन्धन में आबद्ध हो जाता है, वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है, दीनता उसके हृदय पर अधिकार जमा लेती है, उसे पग पग पर दुःख भोगना पडता है और अन्त में मृत्यु का ग्रास बनना पडता है।

यह मनुष्य-योनि चौरासी लाख योनियों के पश्चात् मिलती है। यह मुक्ति का खुला हुआ द्वार है। मनुष्य शरीर पाकर भी जो परमार्थ साधन नहीं करता, मुक्ति के लिये प्रयत्नशील नहीं होता, वह अभागा है, मानो उसने विजय के द्वार पर पहुँचकर पराजय को अपना लिया। सबसे ऊँचा चढकर भी वह नीचे गिर गया। मनुष्य देह से जहाँ च्युत हुआ, कि चौरासी का चक्कर उसके लिये फिर तैयार है। इसलिये कपोत को मैंने अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की, कि मानव तन पाकर घर गृहस्थी में अत्यन्त आसक्त न होना चाहिये।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और कबूतर से ली हुई शिक्षाओं को तो बताया, अब आप यह बतावें कि अजगर को गुरु बनाकर उससे आपने कौन-सी शिक्षा ग्रहण की?"

महामुनि अवधूत बोले—"अच्छी बात है राजन्! अब मैं अजगर से ली हुई शिक्षा का आपके सम्मुख वर्णन करूँगा।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत दत्तात्रेय ने अजगरी वृत्ति की शिक्षा दी उसे मैं आप सबसे कहता हूँ, ये सब उपदेश गृहत्यागी वीतरागी संन्यासी के लिये हैं।"

छप्पय

दोऊ इक दिन गये चुगन खगघाती आयो ।
सुन्दर शावक निरखि डारि कण जाल बिछायो ॥
बालक कणके लोभ जालमहँ फँसि घबराये ।
तबई लैकें चुगो तुरत दोऊ तहँ आये ॥
लखि कबूतरी बन्ध-शिशु, स्वयं फँसी पति फँसि मरयो ।
करै मोह मुनि कबहुँ नहिं, दिव्य ज्ञान हियमहँ धरयो ॥

अजगर से शिक्षा

[१२३०]

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० २ श्लोक)

छप्पय

अजगर गुरु करि लई भीख माँगन नहिँ जावै ।
रूखो सूखो अधिक न्यून पावै सो खावै ॥
यदि भोजन नहिँ मिलै याचना करै न कबहूँ ।
होहि चाहिँ उपवास करै चिन्ता नहिँ तबहूँ ॥
चिन्ता तैं कारज न कछु, कबहुँ बनै चितमहँ धरै ।
रच्यो उदर सो भरैगो, मूरख क्यों चिन्ता करै ॥

जिस वस्तु में आसक्ति हो जाती है, उसी की रक्षा के लिये उचित अनुचित सभी काम करने को लोग उद्यत हो जाते हैं।

---

* श्रीशुकदवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! अवधूत मुनि महाराज यदु को अजगर से ली हुई शिक्षा को बतला रहे हैं, कि त्यागी को अजगरी वृत्ति रखनी चाहिये । मीठा हो अथवा रसहीन हो, थोड़ा हो अथवा बहुत हो, जैसा भी बिना मांगे रूखा-सूखा चिकना चुपड़ा ग्रास मिल जाय, उसी को खाकर अजगर के समान निरीह भाव से सन्तुष्ट रहे । अर्थात् भोजन के लिये कुछ भी प्रयत्न न करे ।"

जिसमें अपनापन नहीं होता, उसे व्यवहार करते हुए भी उसकी उतनी चिन्ता नहीं करते। जिस घर में अपनापन है, जिसे अपना समझते हैं, उसका बड़ा ध्यान रखते हैं। होली दिवाली पर उसे लीपते पोतते हैं, नित्य झाड़ू बुहारू देते हैं, टूटने फूटने पर उसको फिर से बनवाते हैं। सारांश यह है कि उसकी भली-भाँति देखरेख रखते हैं। जो घर अपना नहीं है भाड़े का है या धर्मशाला है उसकी हमें चिन्ता नहीं होती। सोचते हैं—"इसमें हमारा क्या है ? टूटेगा-फूटेगा तो इसका बनाने वाला चिन्ता करेगा। हम तो अतिथि रूप से यहाँ निवास करते हैं, यह फूट जायगा तो दूसरे में चले जायँगे। हमारा अपना घर तो यह है नहीं।"

अब आप विचारिये घर उसी ईंट गारे और मिट्टी-चूने का है। जिस प्रकार घर का स्वामी रहता है, उसी प्रकार हम उसमें रहते भी हैं। घर की समस्त सुविधायें हमें वैसी ही देता है, जैसी उसके स्वामी या बनाने वाले को देता है। हम उसमें रहकर समस्त व्यवहार भी करते हैं। अन्तर इतना ही है, कि सब कुछ करते हैं तो भी उसमें अपनापन नहीं रखते, इससे उसके बिगड़ने और नष्ट होने की चिन्ता भी नहीं करते। यही दशा ज्ञानी और अज्ञानी की है। अज्ञानी शरीर को ही आत्मा मानता है। उसके प्रति उसकी अत्यंत आसक्ति हो जाती है। वह शरीर के दुखी होने पर अपने को दुखी समझता है, उसी की रक्षा के लिये भाँति भाँति के छल प्रपञ्च करता है। इसके विपरीत ज्ञानी भी शरीर में उसी प्रकार रहता है, किन्तु उसमें आसक्त नहीं होता। अपने को शरीर से पृथक् समझता है, इसलिये उसकी चिन्ता भी नहीं करता। वह सोचता है, जब तक प्रारब्ध के भोग हैं, शरीर टिकने को है, तब तक प्रारब्धानुसार आहार अपने आप ही मिल जायगा। जब शरीर का प्रारब्ध समाप्त हो जायगा, तब प्रयत्न करने पर भी

नहीं टिक सकता। जब यही बात है तो हाय-हाय क्यों करें, क्यों आहार जुटाने की चिन्ता करें ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज यदु ने अजगर से ली हुई शिक्षा के सम्बन्ध में अवधूत दत्तात्रेय से प्रश्न किया तो वे कहने लगे—"राजन् ! मैंने अजगर को गुरु बनाकर उससे प्रारब्ध के ऊपर निर्भर रहने की शिक्षा ग्रहण की।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन् ! प्रारब्ध पर निर्भर रहने की शिक्षा आपने कैसे ग्रहण की ?"

अवधूत मुनि बोले—"देखिये राजन् ! जो प्रारब्ध का होता है, वह इच्छा न करने पर भी प्राप्त हो जाता है। जो प्रारब्ध में नहीं है, उसके लिये कितना भी प्रयत्न करो वह प्राप्त नहीं होता। इच्छा करने से ही वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो जातीं, न चाहने से ही वस्तुएँ न मिलें सो भी बात नहीं। कौन नहीं चाहता हम धनी हों, किन्तु सभी धनी नहीं होते। कौन नहीं चाहता हम तेजस्वी यशस्वी और जगत् प्रसिद्ध न बनें, किन्तु सब तो ऐसे नहीं होते। संसार में जान बूझकर कौन चाहेगा कि हमें ज्वर आवे, अर्श, अतिसार, संग्रहणी, राजयक्ष्मा, अपस्मार तथा अन्यान्य भयंकर-भयंकर रोग हों। किन्तु न चाहने पर भी अधिकांश लोग रोगी हो ही जाते हैं। जैसे इच्छा न करने पर दुःख प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही प्रारब्धवश सुख भी मिल जाते हैं, नरक में भी प्रारब्धानुसार सुख मिल जाता है और स्वर्ग में भी दुख हो जाता है। अतः सुख-दुःख को प्रारब्ध के ऊपर छोड़कर निश्चिन्त होकर अजगर की भाँति पड़ा रहें।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! पड़े रहने से पेट कैसे भरेगा ?" अवधूत मुनि बोले—"न भरे पेट। योगी अपने को पेट थोड़े ही मानता है। पेट न भरेगा शरीर नष्ट हो जायगा। नष्ट होता है तो जाय, ज्ञानी योगी की शरीर में तो ममता है ही नहीं, वह तो

प्रारब्ध को समाप्त करना चाहता है। यदि शरीर का टिकने का प्रारब्ध होगा, तो कहीं-न-कहीं से पड़े-ही-पड़े आहार आ जायगा अजगर पेट भरने के लिये सिंह के समान दौड़-धूप नहीं करता। वह चींटी के समान भटकता नहीं रहता। देखो चींटी का कितना छोटा पेट होता है, किन्तु वह रात्रि-दिन आहार की ही चिन्ता में घूमती रहती है। अजगर का शरीर कितना स्थूल होता है, किन्तु वह पेट भरने के लिये कभी अपने स्थान से कहीं नहीं जाता।

वहाँ बैठे-ही-बैठे वह श्वास खींचता है, उस श्वास में जो आ जाता है, उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाता है, कोई नहीं आता तो पवन पीकर ही प्रेम पूर्वक प्रसन्नता के साथ पड़ा रहता है। आहार के लिये प्रयत्नशील नहीं होता। इसी प्रकार मुनि को चाहिये कि शरीर को प्रारब्ध के हाथों सौंप दे। कभी किसी से

आहार की याचना न करे। बैठे बैठे अपने आप ही स्वतः जो आ जाय उसी को खाकर सन्तुष्ट रहे। कभी रूखी सूखी रोटी आ गयी तो उन्हें भी प्रेम से पा जाय, कभी हलुआ, पूड़ी, रबड़ी, मिठाई, मालपूये अथवा लड्डू आदि सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ आ जायँ तो उन्हें भी उडा जाय। किसी दिन पेट भर मिल जाय तो पेट भर के खा ले, किसी दिन आधे पेट मिले, उससे भी कम मिले, तो उसी में सन्तोष कर ले। अनायास बिना माँगे जो भी मिल जाय उसे निरीह भाव से खा ले। उसमें हेय उपादेय बुद्धि न करे। कभी-कभी आहार न मिले तो अजगर के समान पवन पीकर प्रारब्ध भोग समझकर निराहार ही पड़ा रहे।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! पड़े पड़े करे क्या?"

अवधूत बोले—"कर्मों के परित्याग के लिये ही तो अजगर वृत्ति बताई गई है। कुछ भी न करे, मनोबल इन्द्रिय बल और शारीरिक बल से युक्त होने पर भी इनसे कोई काम न ले। जैसे अजगर में बल-वीर्य सब कुछ होता है किन्तु वह उसका उपयोग नहीं करता, इसी प्रकार सह, ओज और बल से पूर्ण होने पर भी मुनि शरीर से निश्चेष्ट पड़ा रहे। यद्यपि उसके भीतर निरंतर ज्ञान की ज्योति जलती रहती है, उसे अज्ञान स्पर्श भी नहीं कर सकता। तमोगुण से उत्पन्न निद्रा, आलस्य और प्रमाद उसे स्पर्श नहीं कर सकते, फिर भी कपट से ऊपर से बिना निद्रा के भी निद्रित-सा पड़ा रहे। भीतर से जागता रहे, ऊपर से लोगों को प्रतीत हो कि ये प्रगाढ़ निद्रा में सो रहे हैं।

इन्द्रियों का कार्य है व्यापार करना। जिसकी आँखों में देखने की शक्ति ही नहीं, वह देखेगा क्या? जो बहरा है वह सुनेगा क्या? जो गूँगा है वह बोलने में असमर्थ है, किन्तु योगी की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वस्थ भी हों तो भी वह उनसे कोई काम न ले, नेत्र होते हुए भी अन्धों के समान बना रहे। घ्राणेन्द्रिय होते हुए

भी सुगन्ध दुर्गन्ध में भेद भाव न करे। रसना रहते हुए भी स्वाद के चक्कर में न पड़े। बहरा न होने पर भी अच्छे बुरे शब्दों को सुनकर सुखी दुखी न हो। स्पर्शेन्द्रिय के रहते हुए भी कोमल वस्तुओं के स्पर्श की इच्छा न करे। इसी प्रकार सब इन्द्रियों में पूर्ण शक्ति रहने पर भी निर्व्यापार बना रहे। साराश यह है कि प्रारब्ध के हाथ में शरीर को सौंपकर स्वय द्रष्टा बन के देखता रहे। ये ही शिक्षायें मैंने अपने गुरु अजगर से ली हैं।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन्! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर और अजगर से ली हुई शिक्षाओं का तो आपने वर्णन किया, अब मैं यह और जानना चाहता हूँ, कि आपने समुद्र से क्या शिक्षा ग्रहण की ?"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"राजन्? समुद्र गुरु से मैंने बहुत बड़ी शिक्षा ली। उसका वर्णन भी मैं आपसे करूँगा।"

शौनकादि मुनियों से सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे अवधूत दत्तात्रेय समुद्र से ली हुई शिक्षा का वर्णन करेंगे उस पावन प्रसङ्ग को मैं अभी आचमन करके कहता हूँ। आप अधीर न हों, ये सब बड़ी ही सुन्दर शिक्षायें हैं।"

छप्पय

भाग्य माहिँ जो होहि देह सुख दुःख प्रबल हू।
इन्द्रिय, मन, बलयुक्त होहि शारीरिक बल हू॥
तबहुँ न चेष्टा करै तानि के सोवै चादर।
यह शुभ, यह है अशुभ कर्म को करै न आदर॥
काहू तैं कडुवा वचन, हित अनहित कबहु न कहै।
अजगर सम निद्रित सतत, निर्व्यापार बन्यौ रहै॥

—०—

समुद्र से शिक्षा

[१२३१]

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

जलनिधि कीन्ही कृपा दया करि दीक्षा दीन्ही।
निस्तरंग जलराशि निरखि शुभ शिक्षा लीन्ही॥
शान्त और गम्भीर रहै सागर सम ज्ञानी।
थाह न समुझैं मनुज पार नहिं पावहिं प्रानी॥
चाहैं बहु पूजा करैं, अथवा ताडन करहिं जन।
घटना कैसी हू घटै, कबहुँ न होवै क्षुभित मन॥

जो घड़ा कुछ रीता रहता है, मुख तक उसमें पानी नहीं भरा रहता वह छलकता है, जो मुख तक भरा रहता है वह नहीं छलकता। जिन मेघों में जल नहीं रहता या कम रहता है, वे ही बहुत गरजते-तरजते हैं। जो मेघ शान्त गम्भीर होते हैं, वे विपुल वर्षा करके चुपचाप चले जाते हैं। अपने दान का अपने गुणों का विज्ञापन नहीं करते। जो सबको दृष्टि

---

* अवधूत दत्तात्रेय, राजा यदु को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"राजन्! मुनि के लिये निस्तरंग समुद्र के समान प्रसन्न, गम्भीर, अगम्य, अक्षेद्य, अनन्तपार और क्षोभरहित होना चाहिये।"

बचाकर एकान्त मे अपने गुणों को सौंदर्य को छिपाये बैठी रहती है, केवल अपने प्राणनाथ के ही सम्मुख आती है, उसी पर अपना सर्वस्व निछावर करती है वह सती-साध्वी है, धर्मपरायणा, पतिव्रता है। इसके विपरीत जो अटारी पर बैठकर सोलहो श्रृङ्गार करके सबके सम्मुख अपना सौन्दर्य प्रकट करती है, सबको अपने रूप-जाल मे फँसाना चाहती है, सबको अपनी ओर आकर्षित करने का सतत प्रयत्न करती रहती है, वह पण्य स्त्री है, वेश्या है, असती और पुन्श्चली है। विषयी पुरुष उसके वश में भले ही हो जाय, सुशील सदाचारी पुरुष उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे।

बहुत-सी ऐसी क्षुद्र नदियाँ होती हैं, जो वर्षा काल में तो बड़े वेग से बहने लगती हैं, उनका पाट बहुत बड़ा रहता है, किन्तु ग्रीष्म ऋतु मे उनमें एक चुल्लू जल भी नहीं रहता, वे सर्वथा सूख जाती हैं। इसी प्रकार कुछ लोग स्वल्प काल के लिये अपने को सदाचारी गुणी सिद्ध करके लोगों को ठगते हैं। कालान्तर में उनकी कलई खुल जाती है और उनका यथार्थ रूप सबके सम्मुख प्रकट हो जाता है। जिसमे सत्यता है, धीरता, गम्भीरता तथा स्थिरता है वह सदा एकरस रहता है, उसमें इतने महान् गुण होते हैं कि सब उसके भेद को पा नहीं सकते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अवधूत दत्तात्रेय समुद्र से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! एक बार मैं घूमता फिरता समुद्र के किनारे चला गया। उस समय समुद्र शांत था। वह चारों ओर मुझे धीर गम्भीर रूप से दिखायी दे रहा था। जिधर मेरी दृष्टि जाती, उधर ही जल की राशि ही राशि दिखायी देती। मैंने देखा उस समय उसमें तरगे नहीं उठ रही थी। वह स्तब्ध और स्थिर बना हुआ था। मैंने विचार किया—"देखो, मनुष्यों के हृदय में सदा तरगें उठती

रहती हैं। सदा किसी-न-किसी विषय की ऊहापोह यह मानव प्राणी करता ही है। इसी ऊहापोह में उसका चित्त चञ्चल हो जाता है, उसकी शान्ति भंग हो जाती है, आशंका से उसका हृदय काँपने लगता है और भावी भय के कारण भयभीत होकर न करने योग्य कार्यों को करने लगता है। अतः समुद्र से प्रथम शिक्षा तो मैंने यह ग्रहण की, कि योगी को कभी व्यर्थ की ऊहापोह न करनी चाहिये। घटना बीत गयी, उसके विषय में सोचना व्यर्थ है। आने वाली घटनायें अभी भविष्य के गर्भ में छिपी हुई हैं। वर्तमान तो हो ही रही है उसकी चिंता करने से क्या लाभ? इस प्रकार न भूत की चिन्ता करे न भविष्य की और न वर्तमान की ही। निश्चिन्त होकर निस्तरंग समुद्र के समान स्थिर रहे।"

दूसरी शिक्षा निस्तरंग समुद्र से मैंने यह ली कि योगी को सदा शान्त और गम्भीर होकर रहना चाहिये। जिस योगी का चित्त चंचल होता है, वह कभी-न-कभी अवसर पाकर विषयों की ओर जायगा और उनकी वासना में फँसकर योगी को नीचे गिरा देगा, उसे अपने लक्ष्य से च्युत कर देगा। अतः योगी को सदा गम्भीर बने रहना चाहिये।

तीसरी शिक्षा मैंने समुद्र से यह ली कि जिस प्रकार समुद्र दुर्विगाह्य है, अगम्य है, उस प्रकार मुनि को भी अगम्य होना चाहिये। समुद्र के बीच में कोई कितना भी डूबने वाला हो उसके भीतर घुसकर उसकी थाह नहीं पा सकता। यह अनुमान नहीं लगा सकता कि समुद्र में कितना जल है, इसी प्रकार शान्त दान्त गम्भीर मुनि के गुणों का कोई पार नहीं पा सकता। उसमें इतना सत्गुण अधिक हो, कि लोग उसके हृदय में ज्यों-ज्यों प्रवेश करना चाहें त्यों-त्यों उन्हें अनन्त गुणराशि का ही अनुभव हो, उसमें अनन्त स्नेह ही स्नेह भरा हुआ हो।

चौथा गुण मैंने समुद्र से यह सीखा कि समुद्र के भीतर

कितने जल जन्तुओं का पालन हो रहा है, कितने जीवों की जीविका चल रही है, कितने रत्न उसके गर्भ मे छिपे पड़े हैं, इसे कोई जान नहीं सकता। इसी प्रकार मुनि को भी अपने गुणों को छिपाये रखना चाहिये, सर्वसाधारण लोग उनकी साधन-सम्पत्ति को जान न सके।

पाँचवा गुण समुद्र से मैंने यह सीखा कि कोई कितना भी बड़ा तैरने वाला क्यों न हो महासागर को तैरकर पार नहीं कर सकता, इसी प्रकार कोई कितना भी बड़ा बुद्धिमान हो, विज्ञान वेत्ता मुनि का पार न पा सके। जिस प्रकार समुद्र की जल राशि अनन्त और अपार है उसी प्रकार उसके गुण भी अनन्त और अपार होने चाहिये। कोई साधारण आदमी चाहे कि हम इसके पार पहुँच जायँ, तो समुद्र को पार नहीं कर सकता। इसी प्रकार मुनि के ज्ञान विज्ञान का कोई पार न पा सके।

छठा गुण मैंने समुद्र से यह सीखा कि जैसे निस्तरंग समुद्र सदा क्षोभरहित बना रहता है उसमें चाहे जो डाल दो इससे उसमें कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार मुनि को चाहे कोई माला पहिना दे, या सर्प को उसके कण्ठ मे डाल दे, पूजा करे या तिरस्कार, स्तुति करे या गाली दे, सभी दशा में क्षोभरहित बना रहे। किसी भी घटना से विक्षुब्ध न हो।

सातवाँ गुण मैंने समुद्र से यह सीखा, कि समुद्र कभी घटता बढ़ता नहीं। वर्षा ऋतु में असख्यों नदियाँ बह-बह कर उसमें मिलती हैं। एक गङ्गा नदी को ही लीजिये—गौमुख से जब समुद्र में मिलने चलती है तो अकेली ही चलती है। चलते समय उसकी इच्छा होती है, मैं समुद्र को इतनी जलराशि जाकर दूँ कि वह आश्चर्यचकित हो जाय, इसलिये मार्ग में उसे जो भी नदी मिलती हैं सभी के जल को मिलाकर समुद्र को उपहार देने दौड़ती है। इस प्रकार समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते वह सहस्रों नदियों

के जल का अपहरण कर लेती है। वर्षा ऋतु में तो वह जल अगणित हो जाता है। इतनी जलराशि को ले जाकर वह समुद्र को देती है, किन्तु उससे समुद्र की सीमा में कोई वृद्धि नहीं, उसे कोई प्रसन्नता नहीं। इसके विपरीत ग्रीष्मकाल में सब नदियाँ सूख जाती हैं, समुद्र में बहुत कम जल जाता है, किन्तु इससे उसकी सीमा में कोई ह्रास नहीं। जल न प्राप्त होने से वह सूखता नहीं, उसे किसी प्रकार का दुख नहीं होता। अधिक जल आ जाय तो, कम आ जाय तो और न भी आवे तो भी जैसा का जैसा। इसी प्रकार योगी को सभी अवस्थाओं में सम रहना चाहिये। उसके समीप कोई मनों लड्डू, पेड़ा, जलेबी डाल जाय तो उसे हर्ष न करना चाहिये। कभी कोई रूखी रोटी डाल जाय, तो विषाद न करना चाहिये और किसी दिन सर्वथा आहार मिले ही नहीं तो दुःखी भी न होना चाहिये। उसे सभी अवस्थाओं में सम भाव से बने रहना चाहिये। इस प्रकार अनूर्मिता, गम्भीरता, अगम्यता, अवेद्यता, अनन्तपारता, अक्षोभता तथा साम्यता ये महान् गुण मैंने समुद्र को गुरु बना कर सीखे। यह मैंने समुद्र से प्राप्त की हुई सात शिक्षाओं का वर्णन आपसे किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चद्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर और समुद्र से ली जाने वाली शिक्षाओं के सम्बन्ध में तो कहा। अब हम जानना यह चाहते हैं कि आपने पतंगे को गुरु क्यों बनाया ? उस अत्यन्त क्षुद्र जन्तु से आपने क्या शिक्षा ग्रहण की ?"

यह सुनकर हँसते हुए अवधूत मुनि बोले—"यथार्थ गुरु तो मेरा पतंगा ही है, उससे तो मैंने बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण की। उस एक शिक्षा को ही प्राणी धारण कर ले, तो उसका बेड़ा पार हो जाय, उसे आप भी ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

सूतजी नैमिषारण्य निवासी मुनियों के सत्र मे कथा सुनाते हुए कह रहे हैं—"मुनियो! पतङ्गा सभी को नित्य शिक्षा देता है। पतङ्गा क्या ससार का अणु परमाणु प्रतिक्षण अपनी अनित्यता की शिक्षा दे रहा है, किन्तु ये प्राणी माया-मोह मे ऐसे फँसे हैं कि उधर ध्यान ही नहीं देते। इन घटनाओं को सभी जानते हैं, सभी देखते हैं। किन्तु विवेकी उनको गम्भीरतपूर्वक देखता है और उनसे शिक्षा ग्रहण करता है। अब आप पतङ्गा से प्राप्त शिक्षा को ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

ज्यों अगनित जलराशि सहित सरिता सागर महँ।
जावें तऊ न वृद्धि होहि पयनिधि के पय मह॥
ग्रीषम मह सुखि जायँ घटै नहि तबहूँ पानी।
त्यों प्रिय पाइ पदार्थ होहि हरषित नहिँ ज्ञानी॥
सुख दुख महँ सम भाव की, शिक्षा सागर तैं लई।
लखि समता गमीरता, ममता मेरी नसि गई॥

पतङ्ग से शिक्षा

[१२३२]

योपिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्धया
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

अब पतंग गुरु करयो कहूँ कारन सो भूपति।
देखि दीप की लोय फँसे तामें खल दुरमति॥
त्यों ही कुण्डल कनक कामिनी पट अति सुन्दर।
भोगबुद्धि करि फँसै दैवकी माया दुस्तर॥
रूप अगिनिमहँ भसम तनु, करैं होहि आसक्त अति।
सुन्दरतामहँ सुख समुझि, जगमहँ होवै नहिं सुगति॥

रूपासक्ति ऐसा असाध्य रोग है, जिसकी कोई चिकित्सा ही नहीं। भगवान् ही बचावें तो प्रानी इससे बच सकता है। सभी

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! पतङ्ग से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूतमुनि महाराज यदु से कह रहे हैं—"हे नृपेन्द्र! जो बुद्धिभ्रष्ट लोभी पुरुष भोगबुद्धि से कामिनी, काञ्चन, कङ्कणादि भूषण और वस्त्रादि मायिक पदार्थों में फँसा हुआ है, वह पतङ्ग के समान नष्ट हो जाता है।"

लोग कहते हैं, सुन्दरता में ऐसा आकर्षण है, कि सभी इसमें फँस जाते हैं किन्तु सुन्दरता की परिभाषा आज तक किसी ने करके नहीं दी, कि यह सुन्दरता है यह असुन्दरता है। पञ्चभूतों के बने पदार्थों में कौन सुन्दर, कौन असुन्दर। एक ही चीनी के समस्त खिलौने मीठे होते हैं उनमें कोई भेदभाव नहीं। किन्तु अज्ञानी बालक लड़ते हैं, हम तो घोड़ा न लेकर हाथी लेंगे, कोई कहता है हम तो बारहसिंहा हरिन लेंगे और कोई ऊँट माँगता है। इन सब खिलौनों को एक ने बनाया है, एक प्रकार के साँचे से बनाया है, एक ही चीनी से बनाया है, किन्तु आकृति भिन्न होने से बालक उनमें भेद स्थापित कर देते हैं, यह खिलौना अच्छा नहीं, यह बहुत अच्छा है, हम तो इसे ही लेंगे, इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार देखा जाय तो संसार में कौन सुरूप है कौन कुरूप है। एक कहानी है—कोई योगिनी थी। उसके रूप को देखकर कोई राजकुमार उस पर लट्टू हो गया। उसने कहा—"चाहे तुम मेरा सर्वस्व ले लो, तुम मेरे साथ विवाह कर लो।'

योगिनी ने कहा—"राजकुमार! तुम्हें विवाह ही करना है तो संसार में एक से एक सुन्दरी राजकुमारी हैं, उनमें से किसी के भी साथ कर लो।"

राजकुमार ने कहा 'देवि! संसार में चाहे जितनी राजकुमारी क्यों न हों, मेरा मन तो तुम्हारे रूप में फँस गया है। तुम मुझे प्राप्त न होगी तो मैं अपने प्राणों को त्याग दूँगा।"

योगिनी ने कहा—"कुमार! तुम बुद्धि से काम लो। मेरे शरीर में ऐसी कौन सी विशेषता है। सब शरीर रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि के बने हैं इन्हीं का बना मेरा शरीर भी है। सब शरीरों के भीतर मल-मूत्र नाना प्रकार के मैल भरे हैं वे मेरे भी शरीर में हैं। इसमें आसक्त होने की ऐसी कौन-सी वस्तु है।"

राजकुमार ने कहा—"मुझे रक्त मांस से प्रेम नहीं, मुझे तो तुम्हारे सौन्दर्य से प्रेम है।"

योगिनी ने कहा—"सौन्दर्य कोई स्थायी वस्तु तो है नहीं। आज है कल नहीं है। यह तो एक रक्त का विकार है। लाल चमकने लगा, सुन्दरता आ गयी। कोई कितनी सुन्दरी हो उसे जमालगोटा विशेष मात्रा में खिला दो, १०-२०-५० बार जहाँ वह शौच को गयी सम्पूर्ण शरीर पीला पड़ जायगा, आभा नष्ट हो जायगी, सुन्दरता विलीन हो जायगी। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि सुन्दरता मल में है। जब तक शरीर में प्राण हैं तभी तक सौन्दर्य है। मृतक व्यक्ति चाहे जितना भी सुन्दर रहा हो किन्तु जब वह प्राणहीन हो जाता है तो भयङ्कर लगने लगता है। कोई उसके समीप भी बैठना नहीं चाहता। प्राण रहते हैं मल में, रक्त में और वीर्य में। इन तीनों को शरीर से पृथक् करके देखो तो इसके सम्मुख खड़ा न हुआ जायगा, वमन हो जायगी। भूल से छू जायँ तो स्नान करना पड़े। ऐसी अशुद्ध वस्तु से बने सौंदर्य के पीछे तुम इतने उन्मत्त हो गये हो कि आत्महत्या पर उतारू हो गये हो ?"

राजकुमार ने कहा—"कुछ भी क्यों न हो मैं तुम्हारे बिना रह नहीं सकता। तुम मेरे ऊपर कृपा न करोगी तो मैं निश्चय ही आत्महत्या कर लूँगा।"

योगिनी ने कहा—"अच्छा, तुम क्या चाहते हो ?"

राजकुमार ने कहा—"मैं तुम्हें चाहता हूँ।"

योगिनी ने कहा—"आपका अभिप्राय 'तुम' कहने से क्या है। मेरी आत्मा को यदि चाहते हो तो आत्मा तो एक ही है। जो तुम्हारे शरीर में है वही मेरे शरीर में भी है। यदि शरीर चाहते हो तो वह पञ्चभौतिक है। सभी शरीर एक से हैं।"

राजकुमार ने कहा—"मैं तुम्हारे शरीर को ही चाहता हूँ।"

योगिनी ने कहा—"अच्छी बात है, मैं तुम्हारे महल में रहूँगी। सात दिन पश्चात् तुम मुझसे भेंट करना फिर तुम चाहो तो मेरे साथ विवाह कर लेना।"

यह सुनकर कुमार के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। योगिनी की समस्त सुविधाओं का उसने सुन्दरता के साथ प्रबन्ध कर दिया, सभी सुखकी सामग्रियाँ उसके सम्मुख प्रस्तुत कर दीं। सात दिनों तक योगिनी महलों में रही। राजकुमार को पल-पल युग के समान बीतने लगे। जैसे तैसे सात दिन व्यतीत हो गये। सातवें दिन उसने राजकुमार को बुलाया। जाकर उसने देखा—जिसके साथ विवाह करने को मैं इतना उत्सुक था, उसके सर्वाङ्ग में बड़े-बड़े झलका पड़ गये हैं, वे व्रण के समान झलके फूट जाते हैं, उनसे अत्यन्त दुर्गन्धियुक्त पीव निकलता है, नख से लेकर शिख तक उसके अङ्ग में बड़े-बड़े झलके पड़े हैं। वह कष्ट से बोली—"राजकुमार! तुम मेरे साथ विवाह करलो।"

राजकुमार ने कहा—"देवि! तुम अच्छी हो जाओगी तब करूँगा।"

योगिनी ने कहा—"मेरे अच्छे होने की आशा नहीं, मेरा रोग भयङ्कर है। गलितकुष्ट का रोग है। मेरे पीव से जिसके जिसके शरीर का स्पर्श हो जायगा, उसको भी यही रोग हो जायगा। इसलिये तुम और किसी को मेरे शरीर का स्पर्श न होने दो, तुम ही मुझसे विवाह करके सुखी हो जाओ।"

राजकुमार ने कहा—"जब मैं तुम्हारा स्पर्श ही नहीं कर सकता तो तुमसे विवाह करके क्या करूँगा?"

योगिनी ने कहा—"मैं स्पर्श करने को मना थोड़े ही करती हूँ।"

कुमार ने कहा—"तुम तो मना नहीं करती, किन्तु स्पर्श

करने से तो मुझे भी यही रोग हो जायगा। फिर विवाह करने से लाभ ही क्या ?"

योगिनी ने कहा—"तुम मेरे शरीर को ही चाहते थे न ? पत्नी के शरीर से जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे पति अपनी ही कहता है। मेरे शरीर से यह पीव निकल रहा है यह भी आपका होगा। यह रोग शरीर से ही तो निकला है जब आप शरीर को चाहते थे तो शरीर से उत्पन्न रोग को को भी आपको चाहना पड़ेगा, लेना पड़ेगा। जिस मेरे रूप पर तुम आसक्त थे वह अब कहाँ चला गया ? सत्य-सत्य बताओ अब तुम्हारा मेरे प्रति पहिले जैसा आकर्षण है या नहीं ?"

राजकुमार बोले—"सत्य बात तो यह है कि अब तो मुझे तुम्हें देखकर ही घृणा होती है। शिष्टाचारवश मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ, किन्तु दुर्गन्ध के कारण मुझसे यहाँ खड़ा भी नहीं रहा जाता। विवाह करने की बात तो पृथक् रही।"

यह सुनकर योगिनी हँस पड़ी। उसने तो योग की शक्ति द्वारा राजकुमार को उपदेश देने को ऐसा वेप बना लिया था। कुमार को उपदेश देकर वह आकाश मार्ग से कहीं चली गयी। कहने का सारांश यह है कि जो सुन्दरता के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते वे ही रूपाशक्ति के चक्कर में पड़कर आत्मघात करने को उद्यत हो जाते हैं। भाग्यवश उन्हें कोई सद्गुरु मिल जाता है, तो उनकी उस प्रबल आसक्ति को वह युक्तियों द्वारा छुड़ा देता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पतङ्ग से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं— "राजन् ! मैं एक बार घूमता फिरता नगर के बाहर बने एक घर में पहुँचा। वहाँ एक दीपक जल रहा था। उसमें आ-आकर सहस्रों पतंगे भस्म हो रहे थे। उन्हें दीपक की ज्योति ऐसी प्यारी

लग रही थी, कि एक पतङ्गा आता, उस दीपक की चमकती ज्योति का आलिङ्गन करता, तुरन्त भस्म हो जाता। दूसरा उससे शिक्षा लेकर निवृत्त हो जाता सो भी बात नहीं, दूसरा भी दौड़ता
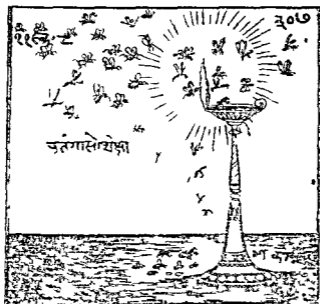
और आकर भस्म हो जाता। इस घटना को देखकर मुझे बड़ा ज्ञान हुआ—"अरे ये पुरुष स्त्रियों पर और स्त्री पुरुषों पर आसक्त होकर इसी प्रकार नष्ट होते हैं।"

सभी जानते हैं, जो स्त्रियाँ असती होती हैं वे बहुत पुरुषों से सम्बन्ध रखती हैं, किसी की भी नहीं होतीं। इसी प्रकार जो चरित्र भ्रष्ट पुरुष होते हैं, उनका प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं होता। वे रूप में आसक्त होकर झूठा प्रेम प्रदर्शित करते हैं। झूठी-झूठी बातें बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और अपने सदाचार को नष्ट करके नरक के अधिकारी बनते हैं। यह बात किससे छिपी है, कि पण्य स्त्री कभी किसी की हुई है? उसका

अनेकों पुरुषों से सम्बन्ध होता है फिर भी अजितेन्द्रिय पुरुष उसके चक्कर में फँस जाते हैं। सब जानते हैं कि मुझसे पहिले प्रेमी का सर्वस्व अपहरण इसने कर लिया है, फिर भी नहीं समझते। उसके हाव भाव और कटाक्षों से प्रलोभित होकर घोर अन्धकार में पड जाते हैं।

कभी सुन्दरी स्त्री को देखकर उसके ऊपर आसक्त होते हैं। स्त्री क्या है मल मूत्र का एक थैला है। कभी सुवर्ण को देखकर उसके ऊपर धर्म कर्म को निछावर कर देते हैं। सुवर्ण क्या है, अग्नि का मल है। उस मल के ही कटक कुण्डल बनते हैं। जैसे कौवा मल को खाकर सुखी होता है वैसे ही अज्ञानी सुवर्ण को पाकर सुखी होते हैं।

कभी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों को सुगन्धित चन्दन मालाओं को पाकर प्रसन्न होते हैं। ये सब पृथ्वी के विकार हैं, मल से उत्पन्न होते हैं, इनमें आसक्त होना कौन-सी बुद्धिमता है ?"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन ! इन पदार्थों से तो हम पृथक् रह ही नहीं सकते। फिर इनसे बचें कैसे ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन् ! बचने को कौन कहता है। पृथ्वी पर ही रहना होगा, आकाश के भीतर ही चलना फिरना होगा, तेज द्वारा ही देखना होगा, अन्न, जल तथा वायु का ही आहार करके शरीर धारण करना होगा। बच तो इनमें सकते ही नहीं, केवल इनमें से भोग बुद्धि निकाल दे। सबको समान भाव से देखें। मोह हमें तभी होता है जब हम उसे अपनाकर उसमे भोगबुद्धि करते हैं। उद्यान में पुष्प खिल रहे हैं अच्छी बात है, किन्तु हम उन्हें अपनाना चाहें, उन्हें तोड़कर अपने पास रखने की इच्छा करें तो हम फँस गये। कितने रुपये लोगों के पास हैं, हमारी उनमें कुछ भी आसक्ति नहीं। किन्तु जब उनको अपनाने का विचार मन में आ जाय, चुराकर, ठगकर,

माँगकर या अन्य उपायों से उन्हें अपना लें, अपने काम में लावें यही बन्धन का कारण है। कितनी स्त्रियाँ हैं, हमारी मातायें हैं, बहिन हैं, पुत्रियाँ हैं, कोई बात नहीं, सामान्य बात है। किन्तु जिसमें भोग बुद्धि हो जाती है, उसकी स्मृति सदा आती रहती है, उसके लिये सदा व्याकुल बने रहते हैं, उसके पीछे धर्म, कर्म लोक लाज सब परित्याग कर देते हैं, यह अधर्म है, पतन का हेतु है, बन्धन का कारण है। ऐसा व्यक्ति अपने सद् असद् के विवेक को खोकर पतङ्ग के समान नष्ट हो जाता है। सो, राजन्! संसारी वस्तुएँ तो सदा से ऐसी ही रही हैं, ऐसी ही रहेंगी। वस्तुओं का त्याग हो भी नहीं सकता और उनके त्याग से कोई विशेष लाभ भी नहीं। त्याग तो भोग बुद्धि का करना है। इसलिये पतङ्ग को गुरु बनाकर उससे मैंने रूपाशक्ति के त्याग की शिक्षा ली।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र और पतङ्ग से ली हुई शिक्षाओं का वर्णन तो किया, अब यह बताइये कि मधुमक्खी को गुरु बनाकर उससे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की?"

अवधूत मुनि बोले—"मधुमक्खी से मैंने बहुत सुन्दर शिक्षा ग्रहण की, उसे भी सुनिये।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब मधुमक्षिका से ग्रहण की हुई शिक्षा को आप श्रवण करें।"

छप्पय

तातैं सुन्दर नारि निरखि नहिँ चित्त चलावे।
नर सुवेष लखि नारि कबहुँ मन नाहिँ डिगावे॥
जो धारै नहिँ सीख व्यर्थ नर देह गँवावे।
है पतङ्ग सम पतित मृत्यु के मुखमहँ जावे॥
यह सुन्दर शिक्षा सुखद लइ पतग गुरु स्वय करि।
मधु मक्खी ज्यों गुरु करी, सुनहु ताहि अब धीर धरि॥

मधुमक्षिका से शिक्षा

(१२३३)

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सगृह्णीत भिक्षुकः ।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

पुष्पनितैं मधु लेइ न तिनिको रूप विगारै ।
त्यों ही मुनि मधुकरी वृत्ति भिक्षाहित धारै ॥
सुमननि तैं गहि सार स्वार्थ नित अपनो साधै ।
त्यों शास्त्रनि को सार समुझि हरिकूँ आराधै ॥
इत उततैं अति यत्न करि, मक्खी मधु छत्ता धरै ।
त्यों यति कबहूँ भूलतें, सचय नहिँ कबहूँ करै ॥

हम संग्रह करते हैं लोभ और अविश्वास के वशीभूत होकर। यह वस्तु रही आवैगी तो काम आवैगी, सम्भव है फिर न मिले। इस अविश्वास के कारण हम दूसरे के भाग को छिपाकर रखते हैं। उसे उसके उपभोग से वञ्चित कर देते हैं। अपनी सुख-

---

* अवधूत दत्तात्रेय मुनि राजा यदु से मधुमक्षिका से ग्रहण की हुई शिक्षा के सम्बन्ध में कह रहे हैं—"राजन् ! संन्यासी को चाहिये कि भिक्षा की रोटी को भी सायकाल अथवा दूसरे दिन के लिये संग्रह न करे। जो संग्रह करता है, वह उस संग्रहीत वस्तु के साथ उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे मधु की मक्खी मधु के साथ नष्ट हो जाती है।"

सुविधा के पीछे दूसरों की सुविधाओं का अपहरण करते हैं। इससे होता क्या है, कि सब लोग इस घात में रहते हैं कि किसी प्रकार इससे इस वस्तु को छुड़ा ले। स्वार्थी के प्रति, संग्रही के प्रति लोगों की सहानुभूति नहीं होती। जो संग्रही के प्रति सहानुभूति दिखाते हैं, वे केवल स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। जिसके पास जितना ही अधिक सग्रह है वह उतना ही अधिक कृपण है, अशांत है तथा लोगों की सहानुभूति से वञ्चित है। जो जितना ही त्यागी है, उसका उतना ही अधिक लोगों के हृदय में सम्मान है। उसे सभी की सहानुभूति प्राप्त होती है, इससे वह सदा शांत बना रहता है। अशांति का कारण संग्रह है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। अवधूत मुनि मधुमक्षिका से ग्रहण की हुई शिक्षा को राजा यदु से बताते हुए कह रहे हैं—"राजन! मधुमक्षिका से मैंने कई शिक्षायें ग्रहण कीं। प्रथम शिक्षा तो यह ग्रहण की, कि जिस प्रकार मधुमक्खी एक ही पुष्प से मधु नहीं लेती, उसी प्रकार यति को एक का ही सर्वदा अन्न न खाना चाहिये, घर-घर से मधुकरी वृत्ति करके भिक्षान्न एकत्रित करना चाहिये। और केवल शरीर बना रहे, जिससे परमार्थ साधन हो सके, इस भावना से थोड़ा-सा अन्न खा लेना चाहिये, स्वाद के लिये नहीं।

दूसरी शिक्षा मधुमक्षिका से यह ग्रहण की, कि मधुमक्खी पुष्पों से मधु एकत्रित तो करती है, किन्तु इस प्रकार उनसे लेती है कि उनके रूप में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती। पुष्पोंका तो कुछ बिगड़ता नहीं उसका काम बन जाता है। इसी प्रकार त्यागी यति को चाहिये, कि अपने जीवन निर्वाह की वस्तुओं का भार एक ही गृहस्थ के ऊपर न डाले। सबसे थोड़ा-थोड़ा ले जिससे उनको कुछ अखरे भी नहीं और अपना जीवन निर्वाह भी हो जाय। प्रथम तो उसे अजगरी वृत्ति से ही रहना चाहिये,

प्रारब्धवश जो आ जाय, उसी में सन्तुष्ट रहे। यदि उदर निर्वाह के लिये माँगना ही हो तो न्यून से न्यून उतना ही माँगे जितना उसे कुछ भी प्रतीत न हो।

तीसरी शिक्षा मैंने मधुपान करने वाले मधुकर से यह ग्रहण की, कि जिस प्रकार मधुकर फूल में से सार सार ही ले लेता है, उसी प्रकार शास्त्रों में से सार सिद्धान्त लेकर उसी के अनुसार आचरण करे। शास्त्रवो अनन्त हैं, एक ही शास्त्र का पार ब्रह्मादिक देवता ही नहीं पा सकते। पापों का प्रायश्चित्त ही स्मृतियों के अनुसार किया जाय, तो निरन्तर प्रायश्चित्त करते रहने पर भी उद्धार नहीं। इसलिये सब शास्त्रों को पढ़कर सूक्ष्म बुद्धि से यह विचार करना चाहिये, कि शास्त्रकार मुनियों का प्रधान लक्ष्य क्या था। जितने जप, तप, तीरथ, व्रत, संयम, सदाचार तथा शुभ कर्म हैं सबका लक्ष्य प्रभु प्राप्ति है। भगवान् की कथा में उनके नाम गुण कीर्तन में मन को लगाये रहना ही सब शास्त्रों का अन्तिम लक्ष्य है। अतः इधर-उधर व्यर्थ न भटक कर सकाम हो या निष्काम, भगवान् के भजन में ही चित्त को लगा देना चाहिये, अन्तःकरण से उन्हीं का सदा ध्यान करना चाहिये। सारभूत वस्तु की ही उपासना करनी चाहिये।

चौथी शिक्षा मैंने मधुमक्षिका से संग्रह के परिणाम को देखकर असंग्रह की ली। मधु की मक्खियाँ मिलकर निरन्तर मधु का संग्रह करती रहती हैं, पुष्पों से जा जाकर मधु ले आती हैं और मुँह में भर-भरकर उसे छत्ते में लाकर एकत्रित करती हैं। वे खाती तो कम हैं, एकत्रित अधिक करती हैं। इसका परिणाम यह होता है, कि जब उनके पास मधु अधिक हो जाता है, तो कोई मधु का लोभी छीन ले जाता है और बहुत सी मक्खियों को भी मार जाता है। इसी प्रकार जो यति भिक्षा के अतिरिक्त धन एकत्रित करता है उसे धन से भी हाथ धोना पड़ता है और

साथ ही प्राणों की भी चिन्ता बनी रहती है। राजन्! साधु के धन पर और वेश्या के यौवन पर सभी की आँख गडी रहती है। अजितेन्द्रिय पुरुष जो भी इनकी ओर देखता है वही इनका उपभोग करना चाहता है। इसलिये साधु को कभी भी धन सग्रह न करना चाहिये। यदि धन संग्रह का प्रारब्ध ही हो, तो उसे तुरंत व्यय करा देना चाहिये। सग्रह करके रखने से उसमे आसक्ति हो जाती है। लाभ से लोभ बढ़ता है, लोभ पाप का मूल है। साधु ने जहाँ सञ्चय किया कि वह गृहस्थों से भी अधिक पतित हो जाता है, न वह इधर का रहता है न उधर का। गृहस्थ तो अपने को छोटा समझता है, साधु ब्राह्मण के पैर पूजता है, यथाशक्ति दान धर्म करता है, किन्तु संग्रही साधु जब पुजाने का काम पडता है तब तो सबसे आगे आ जाता है, जब देने का, धर्म पुण्य करने का, परोपकार का काम पड़ता है, तो धन को छिपाकर कहता है "यह तो गृहस्थों के काम हैं।" अजी देवताजी, यह तो सत्य है यह गृहस्थो के काम हैं, किन्तु धन को एकत्रित करके सर्प के समान उसे छाती से चिपटाये रहना, क्या यह त्यागी का काम है? राजन्! साधु के समीप जहाँ धन आया वहीं वह परमार्थ-पथ से गिर जाता है। परोपकार के लिये भी धन सग्रह न करे। जिसने सर्वस्व त्याग दिया, उसके लिये क्या परोपकार। सब वस्तुओ से आपनापन हटा लेने से बढ़कर कोई दूसरा परोपकार हो ही नहीं सकता। जिसकी दृष्टि में सब स्व ही स्व हे, पर अथवा दूसरा कोई है ही नहीं वह परोपकार करेगा ही क्या? वह तो जो भी करता है सब परोपकार ही करता है। जिसने सुवर्ण में और मिट्टी मे तत्वतः कोई भेद ही नहीं माना उसके लिये परोपकार का महत्त्व ही क्या? काशी की मिट्टी से काशी में काम चल रहा है, काशी की गंगा का जल काशी वाले पी रहे हैं, प्रयाग की मिट्टी का उपयोग प्रयाग वाले कर रहे हैं,

गंगा यमुना के जल को पीकर वे निर्वाह कर रहे हैं। इसमें परोपकार क्या करना। इधर-उधर से धन एकत्रित करें, फिर कोई स्वाँग रचें इसकी आवश्यकता क्या ? जो हो रहा है सब परोपकार ही तो हो रहा है। पृथ्वी सबको अन्न देती है, अपने पास कुछ भी संग्रह करके नहीं रखती। वृक्ष फलों को पकते ही छोड़ देते हैं। नदियाँ की सम्पत्ति सबके लिये खुली है। सूर्य सभी को प्रकाश देते हैं। वायु सबके लिये सुलभ है। आकाश की छत्र छाया मे सभी रहते हैं। इसी प्रकार त्यागी यति का त्याग सभी के लिये शिक्षाप्रद है, उसके त्याग से ही महान परोपकार हो रहा है, फिर वह तुच्छ धन को संग्रह करके उसकी व्यवस्था में अपनी बुद्धि का उपयोग करे तो वह भौतिकता मे उतर आया। इसलिये साधु को धन का संग्रह करना तो दूर रहा, जो भिक्षा मे अन्न मिले उसे उठाकर सायंकाल के लिये भी न रखना चाहिये। क्योंकि संग्रहीत वस्तुओं मे संस्कार बना ही रहता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! तब हम लोग तो बड़े संग्रही हैं, देखिये, अन्न भी हमारे यहाँ रखा है, कितना घृत एकत्रित है ? बहुत-सी सामग्रियाँ हैं, इनसे हमारा भी पतन होगा क्या ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! आपकी बात दूसरी है। यह जो अवधूत शिक्षा दे रहे हैं वे त्याग वृत्ति वाले सिद्ध की स्थिति बता रहे हैं, जिसने प्रथम ग्रहण किया है, पीछे सबको त्यागकर यहाँ तक कि अग्निहोत्र को भी त्यागकर भिक्षुक अवधूत बन गये हैं। आपने तो कभी ग्रहण ही नहीं किया तो आप त्याग क्या करेंगे। आपका ग्रहण तो त्याग के ही निमित्त है। आप नियत समय पर कन्द, मूल खाते हैं, जो आता है उसे यज्ञ में लगा देते हैं, आप किसी से माँगने नहीं जाते। लोगों को झूठी सच्ची बातें बताकर ठगते नहीं। आप तो साधकों के लिये

आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। आप सिद्धो की चर्या को तो प्रदर्शित कर नहीं रहे हैं। आप का ग्रहण, ग्रहण नहीं है। त्याग की दीक्षा लेकर जो फिर स्वार्थवश सग्रह करता है वह पतित हो जाता है। महाराज ! हमने कई त्यागियों को देखा है, पहिले बड़े त्यागी थे, पीछे उनके मन में सग्रह की वासना उत्पन्न हुई, धन सग्रह करने लगे। कहाँ तो पैसे को छूते नहीं थे, कहाँ वे छिपा छिपाकर रखने लगे। जो उनके समीप उनका त्याग देखकर आये थे, वे ही उनके शत्रु बन गये, उनकी हत्या करके उनके धन को छीन ले गये। बहुत से साधु से गृहस्थ बन गये, सजोगी, जोगी, गुसाईं आदि बन गये। सो मुनियो ! साधनावस्था में यज्ञ के लिये प्रभु पूजन के लिये सामग्री एकत्रित करना दोष नहीं। सिद्धावस्था में तो शरीर का सग्रह करना भी दोष है, फिर भिक्षान्न का सग्रह करना तो दूर की बात है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ सूतजी ! समझ गये। अब कृपा करके यह बताइये, कि हाथी को गुरु करके अवधूत दत्तात्रेय ने क्या शिक्षा ग्रहण की।"

सूतजी बोले—"महाराज ! इसके पश्चात् महाराज यदु ने अवधूतजी से यही तो प्रश्न किया था। इसका जो भी उन्होंने उत्तर दिया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, आप समाहित चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

कर पै भिक्षा लेइ उदर में जितौ समावै।
जल के तट पै जाइ प्रेम तैं ताकूँ पावै॥
बचै अन्न कछु शेष अन्य प्रानिनिकूँ देवै।
कल या सायकाल हेतु नहिं यति धरि लेवै॥
त्यागी बनि सचय करै, सो पीछे पछिताइगो।
मधुमक्खी मधुहित मरै, त्यौं यति हू गिरि जाइगो॥

हाथी से शिक्षा

(१२३४)

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

इक दिन घूमत फिरत गयो नृपवर हौं वन में।
सोचूँ लखिकें बनी काठकी हथिनी मनमें॥
कौनें यह धरि दई खिलौना बड़ो बनायौ।
इतनेमें मदमत्त युवक इक हाथी आयौ॥
प्रबल कामके वेग तैं, अन्धो है आगे बढ़्यौ।
फँस्यौ पैर हथिनी सहित, अन्धे कूआमें गिर्यौ॥

देखने से, सुनने से, छूने से और मन से चिन्तन करने से राग बढ़ता है। दो के मिलने से–स्पर्श से–भावों में विकृति होती है। शरीर से शरीर का छू जाना ही स्पर्श नहीं है। यथार्थ स्पर्श तो मन से होता है। जो हमारे मन में बसा है, वह चाहे शरीर से सात समुद्र पार क्यों न रहता हो मनसे हम उससे मिले हुए हैं,

---

* अवधूत मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! हाथी से मैंने यह शिक्षा ली कि काठ की बनी स्त्री को भिक्षु यति को पैर से भी न छूना चाहिये। यदि वह छूवेगा तो जैसे हाथी लकड़ी की हथिनी के अंग-संग से बँध जाता है वैसे बँध जायगा।"

उसका मानसिक स्पर्श कर रहे हैं। ब्रह्म का स्पर्श ऐसे ही हृदय से किया जाता है, योगी लोग ब्रह्म-सस्पर्श करते हैं। हम लोग भी अपने प्रियजनों का मनसे स्मरण करते हुए एकान्त में आँसू बहाते रहते हैं। यह तो मानसिक स्पर्श हुआ। अब एक शब्द द्वारा भी स्पर्श होता है। हम एक भवन मे बैठे हुए हैं, हमारे समीप के ही भवन से एक अत्यन्त सुन्दर कंठवाली गायिका गा रही है तो उसकी स्वर लहरी हमारे कर्ण-कुहरों द्वारा हृदय को स्पर्श करती है। हम गाने वाली को देख नहीं रहे हैं, किन्तु केवल उस स्वर को सुनकर झूमने लगते हैं, हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं और चित्त न जाने कैसा हो जाता है। एक दृष्टि द्वारा स्पर्श होता है। एक कोई सुन्दर व्यक्ति है, वह हमसे बहुत दूर है किन्तु उसकी दृष्टि हमारी दृष्टि से मिल जाती है, हृदय की सब बातें दृष्टि के स्पर्श से ही हो जाती हैं। हृदय में यदि क्रोध हुआ, तो दृष्टि विचित्र बन जाती है, नेत्रों में क्रोध के भाव स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। हमारा हृदय क्रोध से रोष से उसकी दृष्टि को देखकर ही भर जाता है। यदि दृष्टि मे अनुराग है, तो उसके देखने से हृदय पानी-पानी हो जाता है,वह पिघलकर बहने लगता है। बहुतों की एक दृष्टि से ही लोग उनके हाथों बिक जाते हैं, अपना सर्वस्व उनके चरणों में अर्पण कर देते हैं। शरीर से शरीर का स्पर्श हो जाने पर तो एक शरीर की विद्युत दूसरे में आ ही जाती है। अतः सहसा सबका स्पर्श नहीं करना चाहिये। लोभ, मोह, काम या अन्धपरम्परावश हठपूर्वक जानबूझकर जो सबका स्पर्श कर लेते हैं उनके भावों में साकर्य हो जाता है। वे शुद्ध सात्त्विक भावना से परमार्थ चिन्तन नहीं कर सकते, लोक मे चाहे जितनी ख्याति प्राप्त कर लें।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"तपोधन ऋषियो! हाथी से ग्रहण की हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूतमुनि

महाराज यदु से कहते हैं—"राजन् हाथी से मैंने बड़ी भारी शिक्षा ग्रहण की। मैं हाथी की दशा देखकर चकित रह गया और निश्चय किया कि जिसे ससार से पार जाना हो, उसे स्त्रियों मे से आसक्ति हटा देनी चाहिये।"

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने ऐसी कौन सी घटना देखी, किस बात से आपको ऐसा वैराग्य हुआ?"

मुनि बोले—"राजन्! एक बार घूमता फिरता मैं उत्तराखण्ड की ओर चला गया। कदली वन मे जाकर मैंने देखा—कुछ लोग एक पेड की ओट में छिपे बैठे हैं। मैंने उनसे पूछा—"क्यो भाई! तुम लोग इस प्रकार छिपकर क्यों बैठे हो?"

उन लोगो ने कहा—"ब्रह्मन्! हम हाथी फँसाना चाहते हैं।"

मैंने कहा—"भाई, मैने बहेलियों को तथा व्याधाओं को जाल बिछाकर पशु-पत्ती तथा मृगो को फँसाते देखा है, तुम इतने बडे हाथो को फँसाना चाहते हो, तुमने जाल तो बिछाया ही नहीं।"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! मदोन्मत्त हाथी साधारण जाल द्वारा नहीं फँस सकता। वह तो हथिनी को देखकर ही फँस जाता है।"

मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"अरे भाई! हथिनी से हाथी कैसे फँस जाता है, फँसाने वाली हथिनी कहाँ है?"

उन लोगो ने यह सुनकर समीप मे ही एक काठकी खडी रगी हुई हथिनी दिखा दी। उसे देखकर मैं और भी अधिक आश्चर्य चकित हुआ और पूछने लगा—"अरे भाई, तुम लोग मुझसे हँसी तो नहीं करते, यह तो काठ की बनी हथिनी है, यह तो बच्चों के खेलने के खिलोने के काम मे भले ही आ सकता है, किन्तु इससे हाथी केसे फँस सकता है?"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! हम युवक हाथियों को फँसाते हैं। हम यह काम करते हैं—एक बडा गड्ढा खोदते हैं। फिर

उसे पतल पतली लकडियो से पाट देते हैं, ऊपर से मिट्टी बिछा देत हैं, जिससे देखने वाले को यह पता न चले कि इसके नीचे गड्ढा है। उसके ऊपर काठकी बनाकर भीतर से पोली हाथिनी का वहाँ रख देते हैं। हम छिपकर बैठ जाते हैं। बूढे हाथी हथिनी अनुभवी होते हैं, उनमें गम्भीरता आ जाती है। बच्चे माताओं के पीछे चलने वाले होते हैं। बूढे हाथी पग को सम्हाल कर रखते हैं, सूँड में एक लकडी लिये रहते हे। उन्हें जहाँ शका होती है, वहाँ से तुरन्त लौट पडते हैं। किन्तु भगवन्! यह युवावस्था ऐसी बुरी होती है कि इसमें विवेक रहता ही नहीं। नस नस में चचलता छा जाती है। यौवन की ऐसी तरगे उठती हैं कि सम्मुख अपने विनाश को देखता हुआ भी युवक नहीं देखता। आँखों के रहते हुए भी अन्धा हो जाता हे। कानों के रहते हुए भी सदुप-

देश को नहीं सुनता। युवक हाथी दोडकर आगे चलता है। वह

महाराज यदु से कहते हैं—"राजन् हाथी से मैंने बड़ी भारी शिक्षा ग्रहण की। मैं हाथी की दशा देखकर चकित रह गया और निश्चय किया कि जिसे संसार से पार जाना हो, उसे स्त्रियों में से आसक्ति हटा देनी चाहिये।"

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने ऐसी कौन सी घटना देखी, किस बात से आपको ऐसा वैराग्य हुआ?"

मुनि बोले—"राजन्! एक बार घूमता फिरता मैं उत्तराखण्ड की ओर चला गया। कदली वन में जाकर मैंने देखा–कुछ लोग एक पेड़ की ओट में छिपे बैठे हैं। मैंने उनसे पूछा—"क्यों भाई! तुम लोग इस प्रकार छिपकर क्यों बैठे हो?"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! हम हाथी फँसाना चाहते हैं।"

मैंने कहा—"भाई, मैंने बहेलियों को तथा व्याधाओं को जाल बिछाकर पशु-पक्षी तथा मृगों को फँसाते देखा है, तुम इतने बड़े हाथी को फँसाना चाहते हो, तुमने जाल तो बिछाया ही नहीं।"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! मदोन्मत्त हाथी साधारण जाल द्वारा नहीं फँस सकता। वह तो हथिनी को देखकर ही फँस जाता है।"

मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"अरे भाई! हथिनी से हाथी कैसे फँस जाता है, फँसाने वाली हथिनी कहाँ है?"

उन लोगों ने यह सुनकर समीप में ही एक काठकी खड़ी रगी हुई हथिनी दिखा दी। उसे देखकर मैं और भी अधिक आश्चर्य चकित हुआ और पूछने लगा—"अरे भाई, तुम लोग मुझसे हँसी तो नहीं करते, यह तो काठ की बनी हथिनी है, यह तो बच्चों के खेलने के खिलौने के काम में भले ही आ सकती है, किन्तु इससे हाथी कैसे फँस सकता है?"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! हम युवक हाथियों को फँसाते हैं। हम यह काम करते हैं—एक बड़ा गड्ढा खोदते हैं। फिर

उसे पतल पतली लकडियो से पाट देते हैं, ऊपर से मिट्टी बिछा देते हैं, जिससे देखने वाले को यह पता न चले कि इसके नीचे गड्ढा है। उसके ऊपर काठकी बनाकर भीतर से पोली हाथिनी को वहाँ रख देते हैं। हम छिपकर बैठ जाते हैं। बूढे हाथी हथिनी अनुभवी होते हैं, उनमें गम्भीरता आ जाती है। बच्चे माताओं के पीछे चलने वाले होते हैं। बूढे हाथी पग को सम्हाल कर रखते हैं, सूँड मे एक लकडी लिये रहते है। उन्हें जहाँ शका होती है, वहाँ से तुरन्त लौट पडते हैं। किन्तु भगवन्! यह युवावस्था ऐसी बुरी होती है कि इसमें विवेक रहता ही नहीं। नस नस में चचलता छा जाती है। यौवन की ऐसी तरगे उठती हैं कि सम्मुख अपने विनाश को देखता हुआ भी युवक नहीं देखता। आँखों के रहते हुए भी अन्धा हो जाता है। कानों के रहते हुए भी सदुप-

देश को नहीं सुनता। युवक हाथी दौडकर आगे चलता है। वह

तो युवावस्था के मद में अंधा बना ही रहता है। सम्मुख काठ की हथिनी को देखकर उसे यथार्थ हथिनी समझता है, उसे छूने को दौड़ता है, पतली लकड़ियाँ टूट जाती है, वह अंधे कुएँ में गिर पड़ता है, उसके साथ वह काठ की हथिनी भी गिर जाती है। जब उसे वह सूँघता है तो पछताता है, किन्तु अब पछताने से क्या होता है। कुछ काल तक हम उसे उसी प्रकार कूप में पड़ा रहने देते हैं। आहार न मिलने से जब उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तो उसे युक्तिपूर्वक बाँधकर घर ले आते हैं, उसके पैर में जंजीर बाँध देते हैं, उसके ऊपर चढ़ते हैं, उसे कभी स्वतंत्र नहीं करते। वन की स्वतंत्रता उसकी अपहरण कर ली जाती है और वह परतंत्र बन जाता है।"

यह सुनकर मुझे बड़ा कुतूहल हुआ। मैं खड़ाखड़ा उसे देखता रहा। कुछ काल में एक युवावस्था सम्पन्न मदोन्मत्त हस्ती आया। ज्योंही आकर उसने उस काठ की हथिनी को छूआ, त्योंही वह अड़ड़ड़ धम्म करके अंधे कुए में गिर गया उसी समय उसे मैंने अपना गुरु मानकर उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि भिक्षु को कभी प्रतिमा में बनी पत्थर, मिट्टी अथवा लकड़ी की स्त्री को भी भूलकर पैर से भी न छूना चाहिये। जो प्रतिमा में बनी स्त्री को भी छूता है, वह भी फँस जाता है, फिर साक्षात् स्त्री को जो छूता है, उसका तो कहना ही क्या ?

राजा ने पूछा—"महाराज ! यह तो बड़ा ही अन्याय है, काम भाव से छूना तो पाप है, किन्तु स्त्री मात्र को अछूत बना लेना यह कहाँ का न्याय है। हम सब लोग भी तो स्त्रियों से ही पैदा हुए हैं। उसी उदर से पुरुष उत्पन्न होता है उसी से स्त्री। सहोदरा बहिन को न छुवे, अपनी माता को न छुवे, यह क्या बात हुई।"

शीघ्रता के साथ अवधूत मुनि बोले—"नहीं, नहीं राजन् ! मेरा यह अभिप्राय नहीं कि स्त्रियाँ सभी अछूत अस्पर्श होतीं

है। यहाँ न छूने से अभिप्राय कामवासना की निन्दा में है। जैसे पुरुष को स्त्री का छूना निषेध है वैसे ही स्त्री को पर पुरुष का छूना भी निषेध है। स्त्रियों में भी विशेषकर युवती स्त्री का निषेध है। अपनी वृद्ध माता है, उसके पैर छूते हैं, चरण सेवा करते हैं। अपनी छोटी बहिन है उसे गोदी में खिलाते हैं। युवावस्था बड़ी अविवेक की अवस्था है। यह तो स्त्री पुरुष दोनों को ही अन्धा बना देती है। इसमें स्त्री परपुरुष को, पुरुष परनारी को कभी स्पर्श न करे। युवती गुरुपत्नी के भी पैर छूना निषेध है। युवती माता, बहिन, बेटी का भी एकान्त में स्पर्श निषेध है। फिर मैं जो यह वर्णन कर रहा हूँ यह त्यागी विरागी यतियों के धर्म का वर्णन कर रहा हूँ। यति सब कुछ छोड़कर आया है, उसने पूर्वाश्रम में कभी युवती स्त्री का स्पर्श किया है, अब वह चाहे शुद्ध भाव से भी युवती का स्पर्श करेगा, तो उसकी पूर्व स्मृतियाँ जाग उठेंगी। अजी, सजीव की कौन कहे निर्जीव चित्रों को देखकर स्मृतियाँ जाग उठती हैं। इस पापी मन का पता नहीं कहाँ ले जाकर डुबो दे। कितना भी त्यागी-विरागी इन्द्रियजित क्यों न हो जाय, मन का कभी भूलकर भी विश्वास न करे। जब तक जीता रहे यह अभिमान न लावे, कि मैं अब इन्द्रियजित हो गया। संग से–आसक्ति से–आरूढ़ योगी भी पतित हो जाते हैं। इसलिये संकल्पपूर्वक राग से युवती का स्पर्श यति को कभी भी न करना चाहिये, विशेष करके एकान्त में। जहाँ निषेध है एकान्त का ही निषेध है। मेले-ठेले में यात्रा में स्पर्श होता ही है। मुख्य तात्पर्य यहाँ राग में है। यति को रागभरी दृष्टि से न तो उनकी ओर देखना चाहिये और न अनुरागपूर्वक छूना चाहिये।"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! मैं समझ गया। अच्छा, फिर आपने क्या देखा?"

मुनि बोले—"राजन्! उस हाथी को कुँए में गिरते देखकर मैं

आगे बढ़ा। वहाँ मुझे एक हाथियों का झुण्ड दिखाई दिया। हाथियों मे यह होता है कि एक तो यूथपति होता है, शेष उसके साथ हथिनियाँ होती हैं। उस यूथ में यदि कोई हाथी युवक हो गया, तो वह अपना अलग यूथ बना लेगा। किसी अन्य यूथ का हाथी आकर किसी दूसरे यूथ की हथिनी से छेड़छाड़ करता है, तो उस यूथ वाले उसे मार डालते हैं। मेरे देखते देखते एक युवक हाथी आया, उसने उस यूथ की हथिनी से छेड़छाड़ की, उसे तुरन्त सबने मार डाला। तब मैंने सोचा—देखो, इस हाथी की मृत्यु हथिनी बनकर आ गयी। जो पुरुष अन्य स्त्रियों की ओर मन चलाते हैं, उसे सबल पुरुष मार डालते हैं या भयकर रोग उसके शरीर का अन्त कर डालते हैं। अतः बुद्धिमान पुरुष को साक्षात् मृत्यु रूप परस्त्री को कभी स्वीकार न करना चाहिये। जो ऐसा करता है वह स्त्री का आलिंगन नहीं करता है मानों अपनी मृत्यु का ही आलिंगन करता है। इसलिये त्यागी यति को कृत्रिम स्त्री का भी स्पर्श न करना चाहिये और गृहस्थ को परस्त्री का सग भूलकर भी न करना चाहिये।"

यह सुनकर राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका और हाथी से ली हुई शिक्षाओं का वर्णन किया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आपने शहद एकत्रित करने वाले मधुहारी को गुरु बनाकर उससे कौन सी शिक्षा ग्रहण की?"

यह सुनकर अवधूत मुनि हँस पड़े और बोले—"राजन्! हम भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाले भिक्षुओं को सन्तोष तो मधुहारी की वृत्ति से ही होता है। अच्छी बात है, मैं आपको मधुहारी से ग्रहण की हुई शिक्षा को सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप दत्त भगवान् की कही हुई मधुहारी से ग्रहण की हुई शिक्षाओं को श्रवण करें।"

छप्पय

जब कछु आगे बढ़्यो यूथ हाथिनिको आयो।
परहथिनी सँग निरखि युवक गज मारि गिरायो॥
गुरु गज करिकें लई सीख अतिई उपयोगी।
बनी काठकी नारि पैर तैं छुए न योगी॥
परनारी है अगिनि सम, काम नेह तैं नित जरै।
जो पकरै सो मृत्यु को, आलिङ्गन करि-वत करै॥

मधुहारी से शिक्षा

[१२३५]

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसञ्चितम् ।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

जोरि जोरि कै धरै लोभवश लोभी धनकूँ ।
स्वयं खाइ नहिं देहि अतिथि गुरु बन्धु स्वजनकूँ ॥
भेद भेदिया लेइ एक दिन चुपके आवै ।
मधुहारी सम आइ निकारै मधु सब खावै ॥
रचि पचिकैं संग्रह करैं, ते देखत रह जात हैं ।
राम भरोसे जे रहैं, मेवा मिश्री खात हैं ॥

जिसके पास अपनी कोई वस्तु नहीं है, उसके लिये सब वस्तु अपनी है। सुवर्ण तो भूमि से निकलता है, वह चाहे देवदत्त के घर में रखा रहे या विष्णुमित्र के, जब उसे रखा ही रहना है तो कहीं भी क्यों न रहे। एक कहानी है—कोई मनुष्य सुवर्ण को एक स्थान पर गाड़ता जाता था। कभी कभी आकर उसे देख लेता।

---

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—' राजन् ! जैसे मधु मक्खियों के एकत्रित किये मधु को मधुहारी ही भोगता है, उसी प्रकार लोभी पुरुष जिन-जिन पदार्थों को दुःख से संग्रह करते हैं उन्हें न तो स्वयं ही भोगते हैं और न दूसरों को ही देते हैं। उनके धन का भोग कोई अर्थवेत्ता ही करता है।"

किसी चोर ने एक बार उसे देख लिया। जब वह व्यक्ति देखकर उसे गाडकर चला गया, तो पीछे से चोर ने आकर सुवर्ण की ईंटें तो उखाड लीं, और वहाँ वैसा ही पत्थर रख दिया। दूसरे दिन वह धन का स्वामी धन देखने आया और वहाँ सुवर्ण के स्थान के में जब उसने पत्थर देखा, तो वह रोने लगा। उसी समय एक महात्मा वहाँ आये। उन्होंने पूछा—"भाई! तुम क्यों रोते हो?"

उसने कहा—"महाराज! मेरा कोई सुवर्ण यहाँ से चुरा ले गया है और इसके स्थान पर यह पत्थर रख गया है।"

महात्मा ने पूछा—"तुम्हारा सुवर्ण से क्या काम निकलता था?"

उसने कहा—"काम यह निकलता था भगवन्! मैं उसे नित्य देख लेता था, इसी से मुझे प्रसन्नता होती थी, मेरे पास इतना धन है।"

महात्मा ने कहा—"जब केवल यह देखने के ही उपयोग में आता था, तो तुम उसकी इतनी चिन्ता क्यों करते हो। जैसे सोना देखते थे, अब नित्य पत्थर को देख लिया करो। अरे भाई जब तुम उसका उपयोग न करोगे, तो कोई दूसरा करेगा। तुम उसे कभी व्यय तो करते नहीं थे, इसलिये तुम्हारे पास रहना न रहना बराबर है। यहाँ न रहा, कहीं अन्य स्थान में रहेगा। सुवर्ण तो नष्ट होने वाला नहीं।"

कहने का सारांश इतना ही है, कि जो संग्रह करता है वह तो उतनी ही वस्तु को अपनी कह सकता है। जो जान बूझकर संग्रह नहीं करता उसके लिये सभी अपना है। एक अन्धे महात्मा थे, वे आ रहे थे। एक ने पूछा—"आप तो अन्धे हैं आप अमुक स्थान पर कैसे जायेंगे?" उन महात्मा ने कहा—तुम्हारे पास तो दो ही आँखें हैं, मेरे पास तो अनन्त आँखें हैं,

जिस आँख वाले को आँखों का चाहूँगा उपयोग कर सकूँगा।"

एक सुप्रसिद्ध महात्मा कहीं विदेश में गये। दूसरे साथ के यात्रियों ने कहा—"महात्मा जी! आपके पास पैसा तो है ही नहीं, उस अपरिचित देश मे निर्वाह कैसे करोगे?"

महात्मा ने कहा—"तुम्हारे बटुआ में जितने पैसे हैं, तुम्हारे लिये तो उतने ही अपने हैं, किन्तु मेरे लिये सबके पैसे अपने हैं। जहाँ जाऊँगा वहीं जिन सज्जनों के बटुओं के रुपयों का चहूँगा उपयोग कर सकूँगा।" इन उद्धरणों का अभिप्राय इतना ही है कि कृपण पुरुष धन रहते हुए भी उसका व्यय नहीं कर सकता, सदा दुखी बना रहता है, किन्तु उदार पुरुष के पास एक पैसा भी नहीं रहता, फिर भी वह अपनी उदारता से यथेष्ट उडाता खाता है और कभी दुखी नहीं रहता।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! शहद एकत्रित करने वाले मधुहारी से क्या शिक्षा ग्रहण की, इस प्रसङ्ग को बताते हुए अवधूत दत्तात्रेयजी महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन्! हमारे यथार्थ गुरु तो मधुहारी ही हैं। देखिये, मधुमक्खी दिन भर केवल संग्रह के लिये ही प्रयत्न करती है। इस पुष्प के समीप जा, उससे मधु संग्रह कर, इस फूल पर बैठे उस पर बैठे इस प्रकार निरन्तर संग्रह करने में ही लगी रहती है, भर पेट मधु पीती भी नहीं। उन्हे तो निरन्तर संग्रह करने की, अपने छत्ते के शहद को बढ़ाने की चिन्ता लगी रहती है। ऐसा देखा गया है, पहाड़ों में एक-एक छत्ते में ३-३ ४-४ मन तक शहद एकत्रित हो जाता है। बड़े कष्ट से वे मधु को एकत्रित करती हैं। ऐसे छोटे छोटे पुष्पों से जो भली-भाँति दीखते भी नहीं उनसे भी कण-कण मधु संग्रह करती हैं। कोसो दूर उडकर जाती हैं और वहाँ से संग्रह करके लाती हैं। मुँह भर जाता है तो उसे छत्ते में रख जाती हैं, पुनः उड़कर जाती हैं। अधिक संग्रह के लोभ से पेट भर के खाती भी नहीं।

कितने दिनों मे वे सग्रह करती हैं। एक दिन मधुहारी आता है, उनके रहते हुए ही उनके सम्मुख सबको ले जाता है और उनके देखते देखते पेट भर पी जाता है।

एक दिन मैं घूमता घामता पहाड़ पर चला गया। वहाँ मैंने मधुहारी को मक्खियों के सम्मुख ही शहद खाते देखा तो मैंने उसे अपना गुरु बना लिया। मैंने कोई वस्तु सग्रह करने की आवश्यकता नहीं समझी। जहाँ रोटी बनती देखी, वहीं जाकर 'नारायण हरि' कह दिया। गृहस्थी कितने यत्न स अन्न को जुटाता है, उसे पीसता है, बनाता है, उसको पकवाता है। जहाँ पककर तैयार हुई, कि सन्यासी ब्रह्मचारी उसके द्वार पर जाकर भिक्षा माँगते हैं। वह अपने स्वय पीछे खाता है, भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाले ब्रह्मचारी भिक्षुओं को प्रथम खिला देता है। फिर साधु को सग्रह करने कि क्या आवश्यकता है। जो सग्रह करता है, वह तो उसका उपभोग भी नहीं कर सकता।

लक्ष्मी का उपयोग तीन रूप से किया जाता है। कोई उसका मातृरूप से उपयोग करते हैं, कोई पत्नी रूप से और कोई पुत्री रूप से। जैसे माता है, वह सबसे बोलती है, सबसे प्यार करती है, घर में जो भी आ जाता है सबको भोजन कराती है सभी को सुख पहुँचाती है। इसी प्रकार उदार पुरुषों के यहाँ की लक्ष्मी सबके काम में आती है। दान धर्म होता है, परोपकार होता है, सभी ऐसे धनी की छत्रछाया में आश्रय पाते हैं।

दूसरे कृपण लोग लक्ष्मी का सेवन पत्नी रूप से करते हैं। जैसे पत्नी केवल पति को ही अत्यत सुख पहुँचाती है, कुछ परिवार वालों की भी देख रेख रखती है, उसी प्रकार साधारण श्रेणी के कृपण धन का उपयोग केवल अपने तथा अपने कुटुम्बियों के सुख के लिये ही करते हैं। दान धर्म पुण्य आदि कर्म नहीं करते वे धन को स्वय भोगते हैं।

तीसरे अत्यन्त कृपण लोग लक्ष्मी का सेवन पुत्री भाव से करते हैं। जैसे पुत्री का पालन पोषण तो स्वयं करते हैं, जब वह बड़ी हो जाती है, तो दूसरे के घर चली जाती है, दूसरों के यश की वृद्धि करती है। ऐसे ही अत्यन्त कृपण लोग न तो दान धर्म करेंगे, न स्वयं खायेंगे। जोड़-जोड़ धर जायेंगे। माल जमाई खायेंगे। यही कहावत उनके लिये चरितार्थ हो जाती है। मधु मक्खी की भाँति समह तो वे स्वयं करते हैं, मधुहारी की भाँति उसका उपयोग दूसरे लोग करते हैं। इसी प्रकार राजन्! हम लोगों को न चूल्हे की चिन्ता न चक्की की। आटा क्या भाव है दाल चावल किम भाव मिलते हैं, इसे गृहस्थ सोचें। हम तो बनी- बनाई के स्वामी हैं। बनकर तैयार हुई पहुँच गये तूमा ले कर। उसके सामने ही बैठकर खा लेते हैं और हाँथ पोंछकर चले आते हैं। इसलिये मधुहारी को मैंने अपना गुरु बना लिया।

राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधु-मक्षिका, हाथी और मधुहारी से ग्रहण की हुई शिक्षाओं के सम्बन्ध में कहा। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि आपने हरिण को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ग्रहण की?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! अब हरिण की ही शिक्षा को मैं सुनाता हूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब आप भी अवधूतगीता के अन्तर्गत हरिण की शिक्षा को श्रवण करें।"

—o—

छप्पय

मैं मेरी करि पहिन लेइ बेड़ी नर पग महँ।
धन काहू को भयो न होगो है नहिं जग महँ॥
मधुमक्खी करि कष्ट राति दिन शहद जुटावै।
नहीं भोग कर सके काम औरनि के आवै॥
मधुहारी गुरु करि सदा, भिक्षा माँगन जात हूँ।
यही समझी तैं प्रथम, बाबा बनिकें खात हूँ॥

हरिण से शिक्षा

[१२३६]

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

बीहड़ वन में व्याध विलोक्यो वीन बजावत ।
ढिँग महँ जाल बिछाय मधुर स्वर राग अलापत ॥
सुनि वीना की तान रागप्रिय मृग तहँ आयो ।
गाम गीत सुनि फँस्यो अज्ञ निज प्राण गँमायो ॥
स्रवनेन्द्रिय आधीन है, पछितावै अरु सिर धुनै ।
वनवासी यति भूलिकें, विषय-गीत कबहुँ न सुनै ॥

चित्त एक शुभ्र वस्त्र है, इस पर जैसा रंग चढ़ जाता है, वैसा ही यह बन जाता है। पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। नेत्रों का विषय रूप है, जिह्वा का विषय रस है, घ्राण का गन्ध, त्वचा का स्पर्श और कानों का विषय शब्द है। जो इन्द्रिय अपने विषय में अत्यन्त आसक्त हो जाती है, मन उसी के अनुरूप बन जाता

---

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! बन में वास करने वाले यति को चाहिये, कि कभी भी ग्राम्यगीत श्रवण न करे। इस बात की शिक्षा उसे गीत के मोह के कारण जाल में बँधे हुए हरिन से लेनी चाहिये।"

है। यदि आँखों में किसी का रूप बस जाय, तो चित्त निरन्तर उसी रूप का चिन्तन करता रहेगा, उसी में तन्मय हो जायगा। वैसे तो सभी इन्द्रियों के विषय प्रबल हैं, किन्तु जो श्रवणेन्द्रिय का विषय है शब्द, वह अत्यन्त ही आकर्षक है। शास्त्रीय ढँग से स्वर, ताल तथा लय के साथ राग गाया जाय तो अचर-सचर हो सकते हैं, दीपक अपने आप जल सकते हैं बड़े-बड़े पर्वत शब्द के प्रभाव से ही गिर सकते हैं, शब्द में अनन्त शक्ति है, उसका कभी नाश नहीं होता। शब्द अक्षर है, वह नित्य है, उसका प्रभाव भी अनिवार्य है। गायन से हृदय अपने आप आकर्षित हो उठता है। सहृदय मनुष्यों की तो बात ही क्या है, भोले-भोले मृगों का, विषधर सर्पों का भी चित्त राग की स्वर लहरी पर नृत्य करने लगता है और वे राग को सुनकर आत्मविभोर बन कर झूमने लगते हैं, जैसा राग होगा वैसा चित्त बन जायगा। यदि राग वैषयिक है तो चित्त भी विषयवासनापूर्ण हो जायगा। यदि राग भगवद्भक्ति विषयक है तो हृदय भक्तिरस में परिप्लावित हो जायगा। अतः गीत तो गोविन्द के गुणानुवाद सम्बन्धी ही सुनने चाहिये। जो सांसारिक विषयवासना पूर्ण गीत सुनेंगे उनका चित्त विषयों में अनुरंजित हो ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अवधूत मुनि मृग से ली हुई शिक्षा के सम्बन्ध में महाराज यदु को बताते हुए कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन की बात है कि मैं घूमता फिरता एक बीहड़ बन में निकल गया। आप जानते ही हैं, हम लोग तो वनवासी हैं। वनों में ही रहते हैं, वनों में ही घूमते हैं, ग्राम तथा नगरों में तो कभी-कभी आहार के निमित्त आ जाते हैं। मैं सघन वन में होकर जा ही रहा था कि मुझे बड़ी सुन्दर वीणा की ध्वनि सुनाई दी। मैं उस राग की ध्वनि के सहारे-सहारे ही बढ़ता गया। वहाँ जाकर मैंने देखा, एक कृष्ण वर्ण का व्याधा वीन बजा रहा है। व्याधे की दृष्टि में क्रूरता स्पष्ट झलक रही

थी। उसके ताम्र वर्ण के बाल कठोर और रूखे थे। आँखें गोल, छोटी और लाल लाल थीं। माथा छोटा, नाक चिपटी, शरीर रूखा, गँठीला पुष्ट और कठोर कृष्ण चर्म वाला था। देखने में वह साक्षात काल प्रतीत होता था। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह इतनी क्रूर प्रकृति का पुरुष इस प्रकार तन्मय होकर बीन क्यों बजा रहा है। किसी को प्रसन्न करने को बजा रहा हो सो बात नहीं। इस निर्जन वन में दूसरा कोई है ही नहीं। स्वतः सुख के निमित्त आत्म सन्तोष के लिये बजा रहा हो, सो भी बात नहीं

कही जा सकती, क्योंकि इसकी क्रूर दृष्टि इसका समर्थन नहीं करती। अवश्य ही इसके गायन में कोई अव्यक्त गूढ़ हेतु है। मेरा तो काम ही यह है कि संसार की प्रत्येक घटना से कुछ न कुछ उपदेश ग्रहण करना, इसीलिये मैं एक पेड़ की आड़ में खड़ा हो गया। वह बीन बजाता ही रहा।

कुछ देर में मैंने देखा, एक अत्यन्त व्याकुल हरिन दौड़ता हुआ वहाँ आया। उसे तन की सुधि-बुधि नहीं थी, वह व्याधे की वीणा की ध्वनि को ही सुनकर उसके राग से विमुग्ध होकर आया था। आकर वह तन्मय होकर उसके राग को सुनता रहा। व्याधा वीणा बजाता जाता था और कुछ-कुछ पीछे हटता जाता था। आत्मविस्मृत बना हरिण भी स्वर लहरी से आकृष्ट हुआ बढ़ता जाता था। आगे जाल था, हरिण उसमे फँस गया। व्याधा का मनोरथ पूरा हो गया, उसने वीणा बजानी बन्द कर दी। हरिन को पकड़ लिया और उसे मार डाला। उसी समय हरिण को मैंने अपना गुरु बना लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की की वनवासी यति को कभी भी ग्राम्य गीतों को न सुनना चाहिये। जिनमें प्राकृत पुरुषों के शृङ्गार का वर्णन हो, उन पदों को तो भूल से भी न सुने। जो सुनेगा वह इस हरिण की भाँति बन्धन में पड़ जायगा। पुरुषों के गीत भूल से सुन भी ले तो उतनी हानि नहीं, किन्तु स्त्रियों के सुमधुर कंठ के निकले गीत, हाव भाव कटाक्ष युक्त नृत्य आदि तो न कभी सुने न देखे। वनवासी ऋष्य-शृङ्ग मुनि स्त्रियों के गीतों को ही सुनकर तो फँस गये थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऋष्यशृङ्ग मुनि स्त्रियों का गायन सुनकर कैसे फँस गये?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! विभांडक मुनि के पुत्र की कथा आप भूल गये क्या? पीछे मैं वंश-वर्णन में ऋष्यशृङ्ग मुनि की कथा को विस्तार के साथ कह ही चुका हूँ। विभांडक मुनि के रेत को एक हरिणी पान कर गयी थी, उसी से उनके एक पुत्र हुआ। उनके सिर पर सींग थी इसलिये मुनि ने उनका नाम ऋष्यशृङ्ग रख दिया। मुनि की इच्छा थी, मेरा पुत्र संसार में न फँसे, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। यही सोचकर उन्होंने कभी भी अपने पुत्र को स्त्रियों का दर्शन नहीं होने दिया। वे घोर वन में एकांत में

पुत्र के साथ रहते। जो ऋषि मुनि तपस्वी होते उनसे तो पुत्र को मिलने देते, किंतु अन्य किसी से वातें भी न करने देते। ऋष्यशृङ्ग जानते भी नहीं थे कि संसार में तपस्वियों के अतिरिक्त भी कोई है। जब वे युवक हुए तो अंग देश के राजा ने अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ करना चाहा। किन्तु विभांडक मुनि के भय से किसी का भी वहाँ जाने का साहस नहीं हुआ। कोई स्त्रियों की बात भी कहता तो मुनि शाप दे देते। फिर जिस वनवासी युवक तपस्वी ने जीवन पर्यन्त स्त्री का मुख देखा ही नहीं, मृगी के पेट से उत्पन्न हुआ उससे बात भी की जाय तो कैसे की जाय। राजा ने बहुत सी वेश्याओं को बुलाया, उन सब ने असमर्थता प्रकट की। जब राजा अत्यन्त निराश हुए तब एक बूढ़ी वेश्या ने वनवासी युवक मुनि को फँसाने का बीड़ा उठाया। वह अपनी दो-चार युवती वेश्याओं को साथ लेकर गयी। उसने सोचा—"यह कुमार स्त्री के गर्भ से तो उत्पन्न हुआ नहीं। इसलिये इसे प्रथम स्त्रियों का रूप आकर्षित न कर सकेगा। यह है मृगी का पुत्र। मृगी कान की कच्ची होती है, वह सुन्दर स्वर सुनकर फँस जाती है। माता का कुछ-न कुछ प्रभाव सन्तान में अवश्य होता है, इसलिये यह मृगी सुत गायन सुनकर वश में हो सकता है। जो एक विषय के अधीन हो जाता है फिर उसे सभी विषयों के अधीन होना पड़ता है। ज्यों यह शब्द में फँसा कि सुन्दर रूप, सुख स्पर्श, स्वादिष्ट रस तथा मनमोहक गन्ध की ओर इसकी प्रवृत्ति स्वतः हो जायगी। यही सोचकर उस वेश्या ने जिस समय उनके पिता वन में कन्द मूल फल लेने गये थे उसी समय व्याधिन जैसे हरिण के बच्चे को फँसाने को वीणा बजाती है, वैसे ही उसने वीणा बजायी, सुन्दर स्वर से गीत गाना तथा नृत्य करना आरम्भ किया। मुनि पुत्र उस सुरीली तान को सुन कर स्वयं सूत में बँधे कबूतर की भाँति दौड़ा हुआ चला आया।

जब उसे शब्द सुनाकर फँसा लिया तो उन वेश्याओं ने अपने शरीर में लगे सुगन्धित अंगराग तथा इतर फुलैल की गन्ध से अपने गुह्य अंगों के सुखद स्पर्श से अपने मनमोहक रूप से तथा सुन्दर-सुन्दर मिठाइयों के रस से ऋषि कुमार को बाँध लिया और वह उनके हाथ की कठपुतली बन गया। उसके पिता ने उसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के सुखों से तो अनभिज्ञ रखा, किन्तु माता के सहज गुण शब्दाशक्ति से वे उसे नहीं बचा सके। इसी कारण ऋषि कुमार वेश्याओं के चक्कर में फँसकर गृहस्थी बन गया। इसलिये गायन सुने तो भगवान् सम्बन्धी सुने। संगीत का हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जितना आकर्षण संगीत में है उतना किसी में नहीं है। इसलिये संसारी विषय सम्बन्धी संगीत से बचना चाहिये। यही शिक्षा मैंने अपने पन्द्रहवें गुरु हरिण से ली।"

राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधु-मक्षिका, हाथी, मधुहारी और हरिण इन पन्द्रह गुरुओं से ली हुई शिक्षा का तो वर्णन किया, अब यह बताइये आपने सोलहवें गुरु मीन से क्या शिक्षा ग्रहण की। मछली को आपने गुरु क्यों बनाया?"

अवधूत मुनि बोले-"राजन्! मछली से भी मैंने बड़ी सुन्दर शिक्षा ग्रहण की, उसे भी आप ध्यान से सुनें।"

शौनकादि मुनियों से नैमिषारण्य में सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत दत्तात्रेय ने मीन से ली हुई शिक्षा का वर्णन किया उसे मैं आप से कहता हूँ, आप इस पुण्य पीयूष प्रसङ्ग का प्रेमपूर्वक पान करें।"

छप्पय

कोकिल कंठी नारि गाइकें चित्त लुभावै।
विषय प्रसंशा करै स्वार्थ तें तुरत गिरावै॥
व्याधिनि जाल बिछाय मनुज मृग तुरत फँसावै।
ऋष्यशृङ्ग दृष्टान्त शास्त्र प्रत्यक्ष बतावै॥
मृग गुरु करि शिक्षा लई, करै राग ब्रजचन्द्र महँ।
विषय राग सुनि मृग सरिस, फँसै न जग के फन्द महँ॥

मीन से शिक्षा

[१२३७]

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

मत्स्य कर्यो गुरु लई सीख रसना वश राखे।
लोलुपतावश कबहुँ न अनुचित रस कूँ चाखे॥
मास लोभ तैं मत्स्य निगल काँटे कूँ जावै।
फेरि उगलि नहिं सके लोभ महँ प्रान गँमावै॥
होवैं विषय निवृत्ति जब, शिथिल होहिं इन्द्रिय सकल।
केवल रसना छोडिकें, यह इन्द्रिय अतिशय प्रबल॥

पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ है और पाँच ही उनके विषय हैं। पाँचो ज्ञानेन्द्रियों की स्नायुओं का सम्बन्ध पाँचो कर्मेन्द्रियों से है, जैसे चक्षु इन्द्रिय का सम्बन्ध चरण से है। आँखों को बन्द करके चल नहीं सकते, चलेंगे भी तो लाठी के सहारे शनैः शनैः। पैरों के तलुवों में तैल घृत लगाओ, नेत्रों मे

* महाराज यदु से महामुनि कह रहे हैं—"राजन्! इस अत्यन्त बलवती जिह्वा के वशीभूत होकर रस लोलुप पुरुष उसी प्रकार मारा जाता है जिस प्रकार बुद्धिहीन मत्स्य काटे मे लगे हुए मास के टुकडे के प्रलोभन से मारा जाता है।"

शीतलता आ जायगी। उष्ण बालू मे चलो, आँखें लाल हो जायँगी। जिनके पैरों की गति न्यून हो जाती है उनकी देखने की शक्ति भी शिथिल पड जाती हैं। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध गुदेन्द्रिय से है। जिनका स्वाधिष्ठानचक्र दूषित हो जाता है। उनको गन्ध का ज्ञान बहुत कम होता है। नासिका सम्बन्धी रोगो का मूल कारण गुदा चक्र के दोष ही हैं।

स्पर्श इन्द्रिय का सम्बन्ध हाथ से है। शरीर मे कहीं भी चोटी आदि छूवे तुरन्त हाथ वहाँ चला जायगा। त्वचा मे जहाँ भी खुजली होगी, हाथ तुरन्त जाकर वहाँ खुजा आवेगा। अन्य इन्द्रियाँ तो अपने-अपने गोलकों मे ही रहती हैं, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय भीतर-बाहर सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है। इसकी स्नायुओं का विशेष सम्बन्ध हाथों से है। कर्णेन्द्रिय का विशेष सम्बन्ध वाणी से है, इसलिये जो गूँगे होगे वे बहरे भी होंगे। जो बहरे हो जाते हैं, उनकी वाणी को सुनते ही अनुभव होने लगता है कि ये कम सुनते हैं। बिना कानों के वाणी सुनी ही नहीं जा सकती। इसलिये कान और वाणी का परस्पर मे घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय का और उपस्थेन्द्रिय का परस्पर में बडा घनिष्ट सम्बन्ध है। जो जितना ही जिह्वालोलुप होगा, वह उतना ही अधिक कामी होगा। बिना जिह्वा को वश मे किये कोई चाहे कि हम ब्रह्मचर्य का यथाविधि पालन कर सकें यह असम्भव है। ससार मे दो इन्द्रियाँ ही सबसे प्रबल हैं, एक रसेन्द्रिय दूसरी उपस्थेन्द्रिय है। इन दोनों के ही वश मे होने से मनुष्य दीन हो जाता है और वह स्त्रियों के हाथ का क्रीडामृग बन जाता है। स्त्रियाँ उसे जैसे नचाना चाहती हैं वैसे वह नाचता है। इन दोनों की प्राप्ति पत्नी से होती है, अतः गृहस्थ मे ये ही दो सुख विशेष माने गये हैं। कहना चाहिये कि अधिकांश लोग धम बुद्धि से नहीं इन दो के लिये ही गृहस्थ बनते हैं।

एक कोई वृद्ध वैद्य थे, वृद्धावस्था में उन्होंने नया विवाह किया। किसी ने पूछा—"वैद्यजी! इस अवस्था में आपको विवाह करने की क्या सूझी? अब तो आपका पुत्र ही विवाह करने योग्य हो गया।"

उन्होंने कहा—"भैया, यह सब तो सत्य है। वैसे मुझे विवाह की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु सच्ची बात यह है कि रसोइया के हाथ की रोटी में रस ही नहीं आता। न तो पेट ही भरता है न स्वाद ही आता है।"

इस उद्धरण का सारांश यही है कि मनुष्य इन दो इन्द्रियों के अधीन होकर ही दीन बन जाता है। "औपस्थ जैह्व कार्पण्यात् गृहपालायते जनः" इस जिह्वा और उपस्थ के कारण ही उसे घर के कुत्ते के सदृश दीन होकर पूँछ हिलानी पड़ती है। जिन्होंने इन दोनों को जीत लिया वह विश्वविजयी बन गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि दत्तात्रेय मछली से ग्रहण की हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं नदी-किनारे घूम रहा था। वहाँ मैंने देखा, एक धीवर काँटे पर माँस के टुकड़े लगा रहा है। मैंने पूछा—"क्यों भाई, तुम इस पर माँस का टुकड़ा क्यों लगा रहे हो?"

उसने कहा—"ब्रह्मन्! इस काँटे पर माँस का टुकड़ा लगा कर मैं जल में छोड़ूँगा, मछली माँस के लोभ से इसे निगल जायगी।। तब मैं उसे खींचकर पकड़ लूँगा।"

मैंने कहा—"अरे भाई, जो निगल सकता है वह उगल भी सकता है। जब उसे विदित हो जाय कि इसमें काँटा है तो फिर उसे उगल दे।"

उसने कहा—"ब्रह्मन्! विषयों का निगल जाना तो सरल है, उगल जाना अत्यन्त कठिन है। बहुत से लोग अभिमान के

वशीभूत होकर कहा करते हैं—अजी, हम मन से थोडे ही फँसे हैं, जब चाहें तब छोड दें। यह उनकी मूर्खता है। जीवों की विषयों मे अनादि काल की प्रवृत्ति है। एक बार जो विषय ग्रहण कर लिया उसे छोडना बडा कठिन हो जाता है। यह माँस का लिपटा काँटा है, इसकी कीलें नीचे को मुडी हुई हैं। निगला तो सरलता से जा सकता है, किन्तु उगलते समय कठ मे फँस जाता है। तभी हम मछली को खींच लेते हैं। जो मछली इस नहा निगलती, वह हमारे फँदे मे भी नहीं फँसती।"

उस धीवर की बात सुनकर मैं वहाँ खडा हो गया। उसने काँटे मे माँस लपेट कर जल मे डाला, बाँस की लकडी को स्वय पकडे रहा। कुछ काल के पश्चात् एक माँस लोलुप बडा भारी मत्स्य आया। वह अपनी जिह्वा को वश मे न कर सका। उसने काँटे को निगल लिया। धीवर ने खींचा तो वह काँटे मे फँसा हुआ चला आया। जल के बाहर होते ही वह छटपटाता हुआ मर गया। तुरन्त मैंने उसे अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की, कि पुरुष को जिह्वा के वश में न होना चाहिये।

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! जब यह रसना ही हत्या की जड है, जब इसी से बन्धन होता है, तो खाना पीना छोड ही क्यों न दे। न खायगा, न बन्धन मे पडेगा।"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! न खाने से अन्य इन्द्रियाँ तो शिथिल पड जाती हैं, उन्हें अनशन व्रत के द्वारा वश मे किया जा सकता है। बहुत दिन न खाने से आँखों की ज्योति नष्ट हो जाती है, कानों से भी नहीं सुना जाता, घ्राणेन्द्रिय भी निर्बल हो जाती है। त्वचा भी रूखी रूखी हो जाती है, पैरों में चलने की शक्ति नहीं रहती, हाथों से भली भाँति काम नहीं होता। मल भी नहीं उतरता, बोलने में भी कष्ट होता है। अन्य सभी इन्द्रियाँ

शिथिल हो जाती हैं, किन्तु यह स्वादेन्द्रिय शिथिल नहीं होती। मोदकों को भले ही हाथ उठाकर जिह्वा के समीप न ले जाये, किन्तु मन के मोदक जिह्वा खाती रहेगी। पिछली खाई हुई वस्तुओं का स्वाद लेती रहेगी, आगे की वस्तुओं के लिये ललचती रहेगी। अन्य इन्द्रियों के जीतने में उतना कठिनता नहीं है, उन्हें उनके विषयों से पृथक् कर दो वे शिथिल हो जायँगी। कानों को संगीत रूपी आहार मत दो, वे वश में ही हैं। किन्तु यह कुट्टिनी जिह्वा बड़ी ठगिनी है। मनुष्य जिह्वा का कच्चा न हो, तो वह सिंह के समान दहाड़ मारता रहे। इसके वश होने ही से वह गीदड़ बन जाता है। जिह्वा को वस्तु अत्यन्त प्रिय होती, उसका स्मरण कर-करके वह पानी बहाती रहती है और उस पानी को ही पी पीकर अपनी इच्छा को प्रबलतम करता रहती है। जिसने रसना को जीत लिया, उसके लिये कुछ भी जीतना शेष नहीं रहता। सभी जीता जा सकता है।"

महाराज यदु ने पूछा—"भगवन्! आपने पृथ्वी से लेकर मीन तक सोलह गुरुओं से ली हुई शिक्षा का वर्णन तो किया, अब आप यह बतावें कि सत्रहवें गुरु वेश्या-नहीं गुरुआनी वेश्यादेवी-से आप ने क्या शिक्षा ली। आपने लोकनिंदित वेश्या को गुरु क्यों बनाया ?"

यह सुनकर अवधूत मुनि हँस पड़े और बोले—"राजन्! संसार में अपना आपा ही बुरा है। अपने से संसार में सभी अच्छे हैं। बुराई तो अपने भीतर है। यदि भीतर बुराई न होगी तो बाहर भी दिखाई न देगी। यह संसार ही गुण दोषों से बना है। सब में कुछ न कुछ अच्छाई है, कुछ न कुछ बुराई है। निर्दोष तो एकमात्र ब्रह्म ही है। यदि हम सब की बुराई देखेंगे तो बुराई के संस्कार पड़ेंगे, यदि हम भलाई देखेंगे तो भलाई के संस्कार पड़ेंगे। अग्नि जिसमें लगती है पहिले अपने आश्रय को

जलाती है, तब आगे बढ़ती है। तुम किसी पर क्रोध करो, तो सबसे पहिले क्रोध तुम्हारे हृदय में उत्पन्न होगा, तुम्हारे अन्तः करण को क्षुभित करेगा, तब दूसरे को क्षोभ पहुँचावेगा। दूसरों की हम बुराई देखें तो उससे लाभ तो कुछ भी नहीं, प्रत्युत हानि ही हानि है। अतः बुराई देखनी हो तो अपनी देखे, भलाई देखनी हो तो दूसरों की देखे। जैसे कोई अक्षर ऐसा नहीं जो मन्त्र हो, कोई वस्तु ऐसी नहीं जो औषधि न हो। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसमें कुछ न कुछ गुण न हो। सन्त पुरुषों के यही लक्षण हैं कि अपने राई भर दोष को पहाड़ के सदृश मानकर उसे अपने अन्त करण से निकालने का सतत प्रयत्न करता रहे और दूसरे के परमाणु सदृश गुण को पर्वत के समान करके अपने अन्तःकरण मे उसका विकाश करे, उसे ग्रहण कर ले। विष्ठा के भीतर कोई मोती पड़ा हो तो उसे धन लोलुप कभी छोड़ सकता है? इसी प्रकार जिसे ज्ञान पिपासा है, जो सबको गुरु बनाकर शिक्षा ग्रहण करने को लालायित है, वह वेश्या से गुण ग्रहण करने में क्यों हिचकेगा?"

राजा ने कहा- "हाँ ब्रह्मन्! आपका कथन यथार्थ है। अच्छा, कृपा करके बताइये आप ने वेश्या से क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत महा मुनि ने वेश्या से ग्रहण की हुई शिक्षा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही सरस मर्मस्पर्शी कहानी कही है उस कहानी का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—है इन्द्रिय आधीन समय सब यों ही बीते।
इन्द्रियजित नहिँ होहि न जब तक रसना जीते॥
रसना सयम सीख लई मछरी तैं राजन्।
वेश्या गुरु क्यों करी कहूँ ताको अब कारन॥
मिथिलापुर महँ पिङ्गला, वेश्या अति सुन्दर रहति।
आवे कोई नर धनी, बैठी नित आशा करति॥

वेश्या से शिक्षा

[१२३८]

आशा हि परम दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

इक दिन बैठी रही न कोई कामी आयो ।
है निराश वैराग्य भयो मन अति पछितायो ॥
सोचति—हौं अति पतित मनुज-तन व्यर्थ गँमायो ।
नित्य कमाऊँ पाप न हरिमहँ चित्त लगायो ॥
करें कामना पूर्ण का, ये कामी अति क्षुद्र नर ।
क्यों न भजूँ प्रभुकूँ सतत, जो विश्वम्भर गुणाकर ॥

दुःख पड़ने पर जिसे विषयों से विराग हो जाय, भगवान् की नित्यता और इन सांसारिक पदार्थों की असत्यता क्षण-भंगुरता प्रतीत होने लगे, तो समझो भगवान् इसे अपनाना चाहते हैं, इसके ऊपर कृपा करना चाहते हैं। धन की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। जिसकी तृष्णा जितनी ही बड़ी होगी वह उतना ही दीन दरिद्री होगा। इसलिये भगवान् जिन्हें अप-

---

* अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन्! आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है, जैसे पिंगला वेश्या, कान्त की आशा को त्याग देने पर सुखपूर्वक सो गयी थी।"

जलाती है, तब आगे बढ़ती है। तुम किसी पर क्रोध करो, तो सबसे पहिले क्रोध तुम्हारे हृदय में उत्पन्न होगा, तुम्हारे अन्तःकरण को क्षुभित करेगा, तब दूसरे को क्षोभ पहुँचावेगा। दूसरों की हम बुराई देखें तो उससे लाभ तो कुछ भी नहीं, प्रत्युत हानि ही-हानि है। अतः बुराई देखनी हो तो अपनी देखे, भलाई देखनी हो तो दूसरों की देखे। जैसे कोई अक्षर ऐसा नहीं जो मन्त्र न हो, कोई वस्तु ऐसी नहीं जो औषधि न हो। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसमें कुछ-न-कुछ गुण न हो। सन्त पुरुषों के यही लक्षण हैं कि अपने राई भर दोष को पहाड़ के सदृश मानकर उसे अपने अन्तःकरण से निकालने का सतत प्रयत्न करता रहे और दूसरे के परमाणु सदृश गुण को पर्वत के समान करके अपने अन्तःकरण में उसका विकाश करे, उसे ग्रहण कर ले। विष्ठा के भीतर कोई मोती पड़ा हो तो उसे धन-लोलुप कभी छोड़ सकता है? इसी प्रकार जिसे ज्ञान-पिपासा है, जो सबको गुरु बनाकर शिक्षा ग्रहण करने को लालायित है, वह वेश्या से गुण ग्रहण करने में क्यों हिचकेगा?"

राजा ने कहा— "हाँ ब्रह्मन्! आपका कथन यथार्थ है। अच्छा, कृपा करके बताइये आप ने वेश्या से क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत महामुनि ने वेश्या से ग्रहण की हुई शिक्षा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही सरस मर्मस्पर्शी कहानी कही है उस कहानी का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—*है इन्द्रिय आधीन समय सब यों ही बीते।*
इन्द्रियजित नहिँ होहि न जब तक रसना जीते॥
रसना सयम सीख लई मछरी तैं राजन्।
वेश्या गुरु क्यों करी कहूँ ताको अब कारन॥
मिथिलापुर महँ पिङ्गला, वेश्या अति सुन्दर रहति।
आवे कोई नर धनी, बैठी नित आशा करति॥

वेश्या से शिक्षा

[१२३८]

आशा हि परम दुःख नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

इक दिन बैठी रही न कोई कामी आयो ।
है निराश वैराग्य भयो मन अति पछितायो ॥
सोचति—हौं अति पतित मनुज-तन व्यथ गँमायो ।
नित्य कमाऊँ पाप न हरिमहँ चित्त लगायो ॥
करैं कामना पूर्ण का, ये कामी अति छुद्र नर ।
क्यों न भजूँ प्रभुकूँ सतत, जो विश्वम्भर गुणाकर ॥

दुःख पड़ने पर जिसे विषयों से विराग हो जाय, भगवान् की नित्यता और इन सांसारिक पदार्थों की असत्यता क्षण-भंगुरता प्रतीत होने लगे, तो समझो भगवान् इसे अपनाना चाहते हैं, इसके ऊपर कृपा करना चाहते हैं। धन की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। जिसकी तृष्णा जितनी ही बड़ी होगी वह उतना ही दीन दरिद्री होगा। इसलिये भगवान् जिन्हें अप-

---

* अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है, जैसे पिंगला वेश्या, कान्त की आशा को त्याग देने पर सुखपूर्वक सो गयी थी।"

नाना चाहते हैं उनका बन्धु विछोह करा देते हैं, धन को हर लेते हैं, प्रियतम का वियोग करा कर ससार की अनित्यता दिखा देते हैं। अवन्ती नगरी के महाराज भर्तृहरि अपनी पत्नी से अत्यन्त प्यार करते थे। वह अत्यन्त ही सुन्दरी और गुणवती थी। राजा ने अपना सम्पूर्ण प्रेम उसके ऊपर उदारता के साथ उड़ेल दिया था। उन्होंने सर्वस्व उसके ऊपर निछावर कर दिया था। किन्तु रानी उनके प्रति कपट प्रेम प्रदर्शित करती थी, उसका राजा के प्रति यथार्थ प्रेम नहीं था।

काम अन्धा होता है, यह पात्रता का विचार नहीं करता, गुण दोष नहीं देखता, रूप सौंदर्य भी इसमें विशेष कारण नहीं। हृदय जिसे भी पकड़ ले, मन जिधर भी झुक जाय। रानी का गुप्त सम्बन्ध एक अश्वपाल से था। वह राजा के घोड़ों की देख रेख करने वाला एक साधारण नौकर था, रानी का चित्त उसमें फँसा था। जैसे राजा रानी को हृदय से प्यार करते, वैसे रानी हृदय से उस अश्वपाल को प्यार करती। राजा तो रात दिन रानी का ही चिन्तन करते रहते, रानी भी राजा के प्रति बनावटी प्रेम दिखाती, उनकी सेवा सुश्रूषा करती, किन्तु उसके मन में वह जारपति अश्वपाल बसा हुआ था। किन्तु रानी जितना उस अश्वपाल को चाहती थी, उतना वह उसे नहीं चाहता था। उसका चित्त एक वेश्या ने चुरा लिया था। रानी उसे मनमाना धन देती, दासी की भाँति उसकी सब आज्ञाओं का पालन करती, इसलिये वह स्वार्थवश उससे सम्बन्ध बनाये हुए था और बनावटी प्रेम भी दिखाता। कभी कभी कहता—मैं तुम्हारे तनिक से सकेत पर प्राण अर्पण कर सकता हूँ। इससे रानी और भी अधिक उसकी ओर आकर्षित होती, किन्तु उसका हार्दिक प्रेम उस वेश्या से था जो युवती थी, सुन्दरी थी और राज-वेश्या थी।

रानी जो धन देती वह उसे ले जाकर उस वेश्या को दे आता। इसलिये धन के लोभ से वह वेश्या इस अश्वपाल का भी बड़ा आदर सत्कार करती। किन्तु वह बुद्धिमती थी समझती कामियों की प्रीति का क्या ठिकाना! आज इससे की, कल उससे की। वह तो सबको देखती थी, उसकी हृदय से इस पर श्रद्धा नहीं थी। राजा धर्मात्मा थे, एक पत्नी व्रती थे, सदाचारी थे, अतः वेश्या होते हुए भी उसकी श्रद्धा राजा के ऊपर अधिक थी। वह रोज दरबार में जाती और अपनी कला से राजा को सन्तुष्ट करती। राजा के मन में तो रानी की मनमोहिनी मूरति बसी थी, अतः वे वेश्या की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वेश्या जो पुरस्कार पाती उसे श्रद्धा सहित लेकर चली जाती, वह राजा को मन ही-मन देवता मानने लगी।

उन्हीं दिनों किसी दरिद्र पुरुष ने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे अमर फल दिया और कहा—"जो भी फल को खा लेगा, वही अमर हो जायगा।"

उस दरिद्री ने सोचा—"मैं इस फल को खालूँ तो मुझे क्या लाभ? आज तो महाराज भर्तृहरि राजा हैं, सब प्रजा सुखी है, कल में न रहे, कोई दुराचारी, अर्थलोलुप क्रूर राजा हो गया तो मुझे इतना बड़ा जीवन भार हो जायगा, क्यों न मैं इस फल को ले जाकर महाराज भर्तृहरि को दे दूँ। वे अमर हो जायँगे, प्रजा के समस्त लोगों को सुख होगा। सदा वे इसी प्रकार धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करते रहेंगे।" यही सब सोच विचार कर राजा के पास एकान्त में गया और फल का माहात्म्य बताकर वह फल उनकी भेंट करके लौट आया। राजा ने सोचा—"इस फल को मैंने खा लिया और मेरे सम्मुख ही मेरी प्राण प्रिया मर गयी, तो ऐसी अमरता मेरे लिये अभिशाप हो जायगी। मैं तो अपनी प्रियतमा के बिना एक क्षण भी जीवित रहना नहीं

चाहता। यदि इस फल को मेरी हृदयेश्वरी खा ले तो जब तक मैं जीवित रहूँगा तब तक उसके साथ रह सकूँगा, उसके वियोग की मुझे चिन्ता ही न रहेगी।" यही सोचकर उन्होंने अपनी रानी को यह फल दे दिया।"

रानी ने सोचा—"मेरे सम्मुख मेरा यह उपपति अश्वपाल मर गया तो मेरा राज, पाट, धन, वभव सब व्यर्थ है, मैं अमरता को लेकर क्या करूँगी। यदि यह मेरा उपपति अमर बन जायगा, तो जीवन भर इसका साथ रहेगा, निश्चिन्तता हो जायगी।" यही सोचकर उसने वह फल अश्वपाल को दे दिया।

अश्वपाल तो वेश्या के रूप पर लट्टू था, उसने वेश्या को दे दिया। वेश्या ने सोचा—"आज तो महाराज भर्तृहरि हैं, उनके यहाँ से मुझे इतना धन मिलता है। कल कोई क्रूर राजा हो गया, उसने मुझे नगर की सीमा से निकाल दिया तो मेरी अमरता मेरे लिये दुःख का पहाड़ बन जायगी। यदि धर्मात्मा भर्तृहरि राजा अमर हो जायँ तो समस्त प्रजा को सुख होगा।" यह सोचकर जब वह राजसभा में नाचने गयी, तो चलते समय उस फल को राजा की भेंट करके ज्यों ही चलने लगी, त्यों ही राजा की दृष्टि उस फल पर पड़ी। राजा उसे देखते ही चौंक पड़े। वे सोचने लगे—"यह अमूल्य अमर फल कल मैंने अपनी रानी को दिया था, वह इस वेश्या के पास कैसे आ गया। यह सोचकर वे वेश्या को एकान्त में ले गये और उससे पूछा—"यह फल तुझे कहाँ मिला ?"

वेश्या राजा के प्रश्न को सुनकर सकपका गयी। फिर कुछ सम्हल कर बोली—"अन्नदाता ! मुझे एक मुनि ने दिया है।"

राजा ने डाँटकर कहा—"तू बात बनावेगी, तो मैं अभी तेरी जीवित ही खाल खिचवा लूँगा। सत्य-सत्य बता।"

राजतेज के सम्मुख वेश्या डर गयी। उसने हाथ जोड़

-कर कहा—"अन्नदाता, मारें चाहे छोड़ें, आपके अश्वपाल ने मुझे दिया।"

राजा ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"तू राज-वेश्या होकर एक साधारण अश्वपाल से सम्बन्ध क्यों रखती है ?"

वेश्या ने दीनता के स्वर में कहा—"मैं तो वेश्या ही ठहरी। आपके यहाँ से यद्यपि मुझे यथेष्ट धन मिलता है, किन्तु यह तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। जितना ही लाभ होता है उतना ही लोभ बढ़ता जाता है। धन के लोभ से मैं उससे सम्बन्ध रखती हूँ। आपके गुणों के लिये मेरे हृदय में अत्यधिक आदर है, उसी श्रद्धावश यह अमरफल आपके चरणों में भेंट किया, कि आप अमर हो जायँगे तो सदा सबका कल्याण करते रहेंगे।"

राजा ने कहा—"अश्वपाल को यह फल कहाँ मिला ?"

वेश्या ने कहा—"प्रभो! यह बात उसी से पूछें।"

राजा ने तुरन्त अश्वपाल को बुलाया। वेश्या को दूसरे स्थान में बिठा दिया। अमरफल दिखाकर पूछा—"इस फल को तुम जानते हो ?"

उस फल को देखते ही उसका हृदय धक्-धक् करने लगा, मुख मुरझा गया। उसने कहा—"प्रभो मैं कुछ नहीं जानता।"

राजा ने कहा—"देखो, तुम सत्य बात बताओगे तो छूट सकते हो। नहीं तो तुम्हारी बिना धार के शस्त्र से बोटी-बोटी कटवायी जायगी। सत्य सत्य बताओ क्या तुमने इस फल को राजवेश्या को नहीं दिया ?"

डरते-डरते उसने कहा—"हाँ, प्रभो! दिया तो अवश्य।"

राजा ने डाँटकर कहा—"तुम्हें कहाँ से मिला ?"

उसने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! मुझे सम्राज्ञीजी से प्राप्त हुआ।"

राजा ने पूछा—"रानी ने तुम्हे क्यों दिया ?"

उसने कहा—"प्रभो ! मेरा उनसे अवैध सम्बन्ध है।"

राजा को ऐसा लगा मानो किसी ने मुझे सुमेरु से ढकेल दिया हो। "अरे, जो सम्पूर्ण देश के सम्राट् की अर्धाङ्गिनी है, जिसे मैं देवी के समान पूजता हूँ, जिसको प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ, जिसका चिन्तन अहर्निश करता हूँ, वह मुझसे प्रेम न करके एक क्षुद्र अश्वपाल से प्रेम करती है। फिर इस अश्वपाल को भी देखो, इतने बड़े देश की सम्राज्ञी जिसे प्राणों से भी अधिक चाहती है उसे छोड़कर यह एक पण्य स्त्री—वेश्या से प्रेम करता है। हाय ! यह कामदेव की कैसी वीभत्स क्रीड़ा है। धिक्कार है इस रानी को जो इतने बड़े धनी, गुणी, प्रभावशाली, धर्म मे तत्पर मुझ सम्राट को छोड़कर एक क्षुद्र घोड़े खुजाने वाले को चाहती है। और धिक्कार है इस अश्वपाल को जा उच्च राजकुल में उत्पन्न राजरानी से सम्बन्ध करके भी अपनी कामवासना की तृप्ति के लिये वेश्या का आश्रय लेता है। धिक्कार है इस कामदेव को जो स्त्री पुरुप के मन को ऐसे विचलित कर देता है और सबसे अधिक धिक्कार मुझे है जो हाड़-चाम की बनी मल-मूत्र की थैली इस स्त्री पर कामवश ऐसा आसक्त हुआ, कि अपने कर्तव्य को ही भूल गया।" इस घटना से उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और वे सर्वस्व त्यागकर वैरागी बन गये।

इस उदाहरण का सारांश इतना ही है कि जिन्हे हम अपना अत्यन्त प्रिय समझते हैं, वे हमारे विरुद्ध आचरण करने लगें, जहाँ से हम विपुल धन की आशा करते हैं वहाँ भी न मिले और गाँठ का भी देना पड़े। इन घटनाओं से वैराग्य हो जाय, संसार की असारता अनुभव होने लगे, तो यह भगवान् की महती कृपा के चिन्ह समझने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वेश्या से ग्रहण की हुई शिक्षा

का वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! वेश्या को गुरु बनाने में एक इतिहास है, उसे आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

महाराज विदेह के वंश में जितने राजा हुए हैं सभी परम ज्ञानी और धार्मिक हुए हैं। उनकी राजधानी मिथिलापुरी में सदा ब्रह्मज्ञानी ऋषि आते ही जाते रहते थे। मैं भी कभी-कभी घूमता फिरता चला जाता। महाराज विदेह मेरा बड़ा आदर करते थे। उस नगर में पिङ्गला नाम की एक वेश्या रहती थी। सम्पूर्ण नगर में वही एक वेश्या थी। महाराज विदेह को नृत्य प्रिय नहीं था, इसलिये उनके राजभवन में उस वेश्या का प्रवेश नहीं था। वह वेश्या-वृत्ति से ही अपनी जीविका चलाती। मैं उसे जब देखता वह सज बजकर कोठे पर बैठी रहती जब कोई धनिक कामी युवक उसकी ओर देखता तो आशा से उसका मुख खिल जाता, वह उठकर उसका स्वागत करती। कभी-कभी उसे मैं चिन्तित भी देखता।

एक दिन मैंने देखा वह बड़ी उत्सुकता से इधर-उधर टहल रही है। मैं समझ गया, कल कोई इसे यथेष्ट धन लेकर आने का आश्वासन दे गया होगा, आज उसी की यह अत्यंत उत्सुकता पूर्वक बाट जोह रही है। रात्रि का समय था, कुछ बादल भी थे, नन्हीं-नन्हीं बूँदे भी पड़ रही थीं। मैं तो दिगम्बर रहता ही हूँ। मैंने सोचा—लाओ, इससे भी कुछ उपदेश ग्रहण करें। इसलिये उसके कोठे के सम्मुख एक बन्द दुकान के चबूतरे पर जाकर मैं लेट गया और उस वेश्या की चेष्टाओं का बड़े मनोयोग से अध्ययन करता रहा।"

मैंने देखा, वह स्वच्छन्दचारिणी आज अत्यधिक सजी बजी थी। कृत्रिम सौंदर्य बनाने की उसने सभी चेष्टायें की थीं। उसके शरीर से इत्र फुलैल की सुगन्धि दूर तक आ रही थी। टटके

पुष्पों की मालाओं को वह धारण किये हुए थी और वस्त्राभूषणों से भली भाँति सुसज्जित थी। वह कोठे के द्वार पर खडी थी। जो भी स्वच्छ वस्त्र पहिने पुरुष दिखायी देता, उसी को ध्यानपूर्वक देखती। वह जब जीने की ओर न मुडकर सीधा चला जाता और आगे निकल जाता तो निराश होकर फिर देखने लगती। फिर कोई आता तो फिर सोचती—"अवश्य ही यह कोई बहुत धन देकर रमण करने वाला नागरिक होगा। किन्तु जब वह न आता तो दूसरे की आशा लगाती। बहुत समय तक देखते देखते आँखें दुखने लगतीं, खडे खडे कष्ट होता, बैठ जाती। फिर भी चित्त न लगता, तो भीतर पलग पर जाकर पड जाती, किन्तु वहाँ भी चिंचित बनी रहतीं। कानों को जीने की ओर लगाये रहती, पेछर सुनती रहती कोई आ तो नहीं रहा है। फिर उठकर जाती, फिर देखती, फिर आकर पड जाती।"

अब लोगों का आवागमन भी कम हो गया। शनै शनैः आधी रात हो गयी। उस दिन उसे धन की अत्यन्त आशा थी। वह आशा निराशा मे परिणत हो गयी। उसका मुख पाला पड गया, ओठ सूख गये, आँखों मे निराशा छा गयी, हाथ पैर शिथिल पड गये। उसका चित्त अत्यन्त ही व्याकुल हो गया। भगवान् की उस पर कृपा हो गयी। उस विह्वल चित्त वेश्या की चिन्ता ही उसके कल्याण का कारण बन गयी। इस घटना से उसे सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हो गया। जिसे विषयों से वैराग्य हो गया उसका काम बन गया, उसने सब कुछ पा लिया। सब साधन भजन वैराग्य के लिये ही तो किये जाते हैं।

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन ! वैराग्य होने पर क्या होता है ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन ! आशा ही एक बन्धन है। मनुष्य आशाओं के ही कारण बँध जाता है। ससार में आशा न हो तो सभी मुक्त हो जायँ। आशा रूपी पाश का छेदन वैराग्य

रूपी खड्ग से ही हो सकता है। जिसे कभी विषयों से वैराग्य ही नहीं होता, खाना-पीना, सोना तथा सन्तानोत्पन्न करना इसी में जिसे सुख प्रतीत होता है, जो काम-सुख को ही सब कुछ समझता है, वह पुरुष उसी प्रकार देह बन्धन को नहीं छोड़ सकता, जिस प्रकार विज्ञानहीन पुरुष अहंता ममता का परित्याग नहीं कर सकता। उस वेश्या की जब आशा पर पानी फिर गया, तब उसे वैराग्य हो गया और उस वैराग्य की तन्मयता में वह नाचने लगी, गाने लगी। मैं उसके भावों को देखकर ही समझ गया कि इसे वैराग्य हो गया है। मैं तो इसी ताड़ में बैठा-बैठा उसी की ओर देख ही रहा था। वह मेरी ओर नहीं देखती थी–सोचती थी–इस नंग-धड़ंग साधु से मेरा क्या स्वार्थ सिद्ध होगा। जब उसे वैराग्य हो गया, तो मैं तुरन्त उसके कोठे पर चढ़ गया और उससे मेरी बड़ी बातें हुईं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपकी उस वेश्या से क्या बातें हुईं, कृपा करके उन्हें मुझे भी सुनावें। जिसके ऊपर आप जैसे महात्माओं की दृष्टि पड़ जाय वह कैसा भी पतित क्यों न हो, उसके उद्धार में तो कोई सन्देह ही नहीं है। आपके साथ जो उसका सम्वाद हुआ होगा, वह तो अत्यन्त ही शिक्षाप्रद होगा। उससे वैराग्य पथ के पथिकों का बड़ा उपकार होगा। मेरी उसे सुनने की प्रबल इच्छा है।"

यह सुनकर अवधूत मुनि बोले—"राजन्! मैं ऊपर उसके पास गया और बोला—"बाईजी! नारायण, नारायण। कहो, तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो गयीं। मैं बड़ी देर से तुम्हें देख रहा था। तुम अब तक बड़ी चिन्तित प्रतीत होती थीं, किन्तु अब सहसा ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई बड़ा भारी गुप्त धन मिल गया हो। तुम मुझे अपनी प्रसन्नता का कारण बताओ।"

मेरी बात सुनकर उसने मेरे चरणों में श्रद्धा-भक्ति के साथ

प्रणाम किया और बोली—"ब्रह्मन्! मैं भी आपको बड़ी देर से देख रही थी, किन्तु मैं तो आपकी अवहेलना करती रही। किन्तु आप अकारण कृपा करने वाले सन्त हैं, आपकी ही कृपा भरी दृष्टि के कारण मुझे वैराग्य रूपी धन प्राप्त हो गया, जिसके सम्मुख ये संसारी धन अत्यन्त ही हेय और तुच्छातितुच्छ हैं। हाय! प्रभो! मैंने अपने इतने जीवन को व्यर्थ ही गँवा दिया हाय! मेरी मूर्खता तो देखिये, मुझ इन्द्रियपरायणा के मोह के विस्तार का तो विचार कीजिये। कैसी मेरी जड़ता है, मैं इन तुच्छ और असद्‌बुद्धि प्रेमियों से सुख की कामना करती हूँ। घर की कामधेनु को छोड़कर वन में आकके दूध से अपनी तृप्ति चाहती हूँ, घर के कल्पवृक्ष के छोडकर करील के वृक्ष से सुख की कामना करती हूँ।"

मैंने पूछा—"मनुष्य को जब बड़ा लाभ होने की सम्भावना होती है, तब छोटे लाभ का परित्याग करता है। तुम्हें कोई एक बहुत बडा आदमी अपना ले, तब तुम वेश्या वृत्ति को छोड भी सकती हो। क्या तुम्हे ऐसा बडा कोई सज्जन मिल गया है क्या?"

उस पिंगला वेश्या ने कहा—"ब्रह्मन्! कहीं बाहर होता, दूर होता अथवा मुझसे पृथक् होता, तो मैं कह भी सकती थी कि मिल गया। वह प्राणिमात्र का परम प्रेमास्पद सबसे श्रेष्ठ पुरुष, सबसे अधिक धनी तथा सबसे अधिक रतिसुख देने वाला मेरा परम प्रियतम तो मेरे हृदय में ही निवास करता है, उसे पा नहीं लिया पहिचान लिया है। इस निराशा की विवशता में वह मुझे दिखायी दे गया है। अब मैं इन अन्तःकरण के साक्षी सबके सुहृद् प्रेष्ठतम परमेश्वर को भूलकर अपनी कामना पूर्ति के लिये इन दैव के खिलौने, दुःख, भय, रोग, शोक और मोह आदि को देने वाले इन वेश्यागामी कामियों के फन्दे में न फसूँगी, अब धन के

लिये इन्हें न भजूँगी, अब इनसे सुख की आशा न रखूँगी, अब इनसे रति सुख न चाहूँगी। अब मेरा अज्ञान दूर हो गया। हाय! मैंने कैसे कैसे पाप किये, मेरी कैसी मति मारी गयी, मैं विवेकहीना बन गयी, मैंने यह अत्यन्त निन्दित लोक गर्हित आजीविका ग्रहण की! इस पापी पेट के लिये कभी भी शान्त न होने वाली इस काम वासना की तृप्ति के लिये मैंने वेश्यावृत्ति स्वीकार की। कामवासना की कभी तृप्ति होती ही नहीं। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने से वह शान्त होने के स्थान में और बढ़ती है, वैसे विषयों के भोग से वासनायें और अधिकाधिक बढ़ती ही जाती हैं। जिसने अपने अन्तःकरण को संयम में नहीं रखा है उसका अधिकाधिक पतन ही होता जाता है। मैंने विष को अमृत जानकर पान किया, प्रज्वलित अग्नि को सुख स्पर्श समझकर हृदय से लगाया, इन कामियों का संसर्ग करके अपनी अन्तरात्मा को सन्तप्त किया। जो स्वय काम के अधीन होकर सन्तप्त हो रहा है वह मेरी तृप्ति कैसे करेगा, जो स्वय धन का कृपण है वह मुझे कितना धन देगा, जो स्वय शोचनीय है उसके द्वारा मुझे कैसे शान्ति होगी। मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी, प्रारब्ध ने मुझे ठग लिया जो मैं अब तक इन स्त्री-लम्पट, अर्थ लोलुप और अत्यन्त शोचनीय पुरुषों से सम्बन्ध रखकर रतिसुख तथा धन की इच्छा करती थी, मैं तनिक से धन के पीछे अपने शरीर को बेच देती थी।"

मैंने हँसकर पूछा—"देवि! तुम्हारा यह सब कथन तो सत्य है, किन्तु जब तुम इस कर्म को छोड़ दोगी, तो अपनी आजीविका कैसे चलाओगी, शरीर का निर्वाह कैसे करोगी?"

वह कुछ हँसकर बोली—"ब्रह्मन्! आप सब जानकर भी मुझसे ऐसा प्रश्न कर रहे हैं, इससे मैं यही समझती हूँ कि आप मेरे वैराग्य की परीक्षा ले रहे हैं। आप सोचते होंगे, इसे क्षणिक

वैराग्य हो गया, जहाँ इसके सम्मुख आजीविका का प्रश्न आवेगा वहाँ यह फिसल जायगी। प्रभो! आपकी कृपा ही अनुग्रह बनी रही, तो मैं फिसलने वाली नहीं हूँ। अब मुझे शरीर की चिन्ता नहीं। शरीर रहे चाहे नष्ट हो। शरीर प्रारब्ध के अधीन है। मैं अपने शरीर को कामियों को अर्पित करती थी, धन के लिये रतिसुख के लिये। उनसे धन चाहती थी, रतिसुख चाहती थी। सबसे अधिक धनी तो आत्मरूप से मेरे हृदय में बैठे हैं, इनमें मैं सन्तोषरूपी धन प्राप्त करूँगी, जिस धन के आने पर किसी भी धन की इच्छा नहीं रहती। सुख के सागर भी वे ही प्रभु हैं। यथार्थ सुख तो उन्हीं के संग से प्राप्त हो सकता है। इन काम के अधीन हुए कामियों के घृणित शरीर से भला क्या सुख मिल सकता है। यह शरीर क्या है, अत्यन्त घृणित घर है। घर में तो बाँस काष्ठ टेढ़े मेढ़े लगे रहते हैं, किन्तु इस शरीर रूपी घर में तो सूखे बाँसों के स्थान में रुधिर और मज्जा से सनी गीली हड्डियाँ लगी हैं। उन्हीं हड्डियों की थूनियाँ हैं जिनके सहारे यह खड़ा है। घर को जैसे मिट्टी में भूसा डालकर उससे लेप देते हैं वैसे ही यह त्वचा और रोमों से ल्हेस दिया गया है। घर में जैसे इधर उधर घास उत्पन्न हो जाती है वैसे ही इसमें रोम, केश और नख उत्पन्न हो जाते हैं। कच्चा घर जैसे वर्षा से पुराना होने पर तुरन्त फट जाता है नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आधि तथा व्याधियों से यह घर नाश हो जाता है, घर में नित्य झाड़ देते हैं फिर भी उसमें कूड़ा करकट भर जाता है, भोजन आदि करने से कीच हो जाती है, उसी प्रकार यह शरीर रूपी घर भी कूड़े करकट से सदा भरा रहता है। घर तो यत्न करने पर स्वच्छ भी हो सकता है किन्तु यह देहरूपी घर कभी स्वच्छ नहीं होता, उसमें विष्ठा मूत्र भरे ही रहते हैं, नौ द्वारों से निरन्तर मल बहता रहता है, रोम रोम से मल निकलता है। ऐसे इस

अत्यन्त घृणित शरीर रूप घर में मेरे अतिरिक्त और कौन आसक्ति करेगा, कौन इस शरीर को सुख देने वाला समझकर आलिंगन करेगा जो शरीर स्वयं घृणित है, स्वय रोगों का घर है, स्वय मल मूत्र और पीडाओं से भरा है वह दूसरों को क्या सुखी करेगा। हाय! इस विदेह नगरी के राजा कितने आत्मज्ञानी हैं, कितने सन्त महात्मा यहाँ नित्य ज्ञान चर्चा के लोभ से आते हैं। यहाँ का बच्चा-बच्चा जानता है, देह नाशवान् है, आत्मा अविनाशी देह क्षुद्र है, आत्मा महान है। अल्प में सुख नहीं, परिपूर्ण में सुख है। आत्मा सत्य है, चैतन्य है, आनन्द स्वरूप है। आत्मा की प्रियता से ही जगत् की सब वस्तुओं मे प्रियता है। इस नगर के निवासी सभी विषयों की अनित्यता और क्षण-भगुरता जानते हैं। इस पुण्य प्रदेश में इस विज्ञानमय नगर मे एकमात्र मैं ही ऐसी कुलटा, मूखा, दुष्टा और पथभ्रष्टा हूँ, जो इन आत्मरूप, अज, अच्युत, अखिलेश, अन्तर्यामी प्रभु को परित्याग करके किसी अन्य से अपनी कामनाओ को पूर्ण करना चाहती हूँ।"

मैंने पूछा—"तो अब तुमने निश्चय क्या किया है ?"

पिङ्गला बोली—"अब महाराज! आपका आशीर्वाद होगा तो मैं किसी भी कामी पुरुष का स्पर्श न करूँगी, किसी के हाथों पैसा लेकर इस शरीर को न वेचूँगी, किसी भी कामी को प्रसन्न करने की मैं चेष्टा न करूँगी। अब तो मैं सम्पूर्ण शरीर धारियो के एकमात्र सच्चे सुहृद्, स्वामी, सर्वस्व, सुख स्वरूप सच्चिदानन्द सर्वेश्वर की सदा सेवा करूँगी। उन्हीं को रिझाऊँगी उन्हीं के हाथो बिक जाऊँगी, उन्हे ही अपना परम प्रियतम बनाऊँगी, उन्हीं को अपनाऊँगी। लक्ष्मीजी जैसे निरन्तर उनके पैर पलोटती रहती हैं उसी प्रकार उन रमारमण के पैर पलोटती हुई उन्हीं के साथ रमण करूँगी, उन्हीं के संग क्रीडा करूँगी, उन्हे ही

अपना कान्त बनाऊँगी, उन्हीं के निमित्त समस्त चेष्टायें करूँगी। ब्रह्मन् ! आप ही बतावे ये क्षुद्र मनुष्य क्या सुख दे सकते हैं। जो सबसे बड़ा सम्राट् है, युवक है रतिप्रिय है क्या वह अपनी पत्नियों को सर्वात्मभाव से सन्तुष्ट रखता है ? क्या उनकी पत्नियों को पूर्ण तृप्ति होती है ? ससारी भोगियों और भोगप्रदान करने वालों की बात छोड़ दीजिये, इन्द्र हैं, वरुण हैं, कुबेर हैं, यम हैं तथा अन्यान्य लोकपाल हैं, क्या इन सबकी पत्नियाँ सन्तुष्ट हैं ? यदि सभी सन्तुष्ट होतीं तो ये अन्य पुरुषों का भजन क्यों करतीं। बहुत-सी देवताओं की पत्नियाँ अपने पतियों से असन्तुष्ट होकर चन्द्रमा के समीप सुख की इच्छा से चली गयीं। चन्द्रमा की पत्नियाँ अपने पति से असन्तुष्ट होकर दक्ष के समीप गयीं। दक्ष ने चन्द्रमा को क्षय होने का शाप दिया। जब इतने बड़े-बड़े लोकपाल भी अपनी पत्नियों को परितुष्ट नहीं कर सकते, तो ये क्षुद्रकामी वेश्यागामी मुझे क्या सन्तोष पहुँचा सकेंगे, मुझे कितना सुख दे सकेंगे। मुझे तो इस वेश्या-जीवन में कभी भी सच्चा सुख नहीं मिला, सदा अशान्त बनी रही। क्षणिक विषय सुख से और भी अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती गयी।"

मैंने कहा—"हाँ देवीजी ! आपको चिन्ता तो अवश्य बहुत रहती होगी। मैं बहुत देर से देख रहा था कि तुम निराशा के कारण अत्यन्त चिन्तित हो रही थीं, तुम्हारा मुख म्लान हो रहा था। तुम बार-बार बाहर आती बार बार भीतर जाती थीं।"

पिङ्गला ने कहा—"नहीं ब्रह्मन् ! इस दुःख को तो मैं परम सुख का कारण मानती हूँ,इस निराशा ने ही तो मुझे सच्ची आशा का आलोक दिखाया। आज मुझे निराशा न होती,तो यह सुख का साधन वैराग्य मुझे कभी भी प्राप्त न होता। इस जन्म में तो मैंने पाप ही पाप किया है, युवकों को उनकी पत्नियों से विमुख किया है, धनिकों के धन को हँस हँसकर अपहरण किया है। असुरा

पापियों को सुरापायी बनाया है, मिथ्या प्रेम प्रदर्शित करके भोले-भाले युवकों को फँसाया। इस जन्म में मुझसे कोई सुकृत बना हो, इसका तो मुझे स्मरण नहीं। अवश्य ही मुझसे पूर्व जन्मों में कोई बड़ा भारी सुकृत बन गया होगा, उसी शुभ कर्म के प्रभाव से भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हुए हैं। तभी तो मुझ पतिता को इस दुराशा से भी ऐसा आनन्दप्रद वैराग्य उत्पन्न हो गया। यदि मेरा भाग्य मन्द होता, तो तुरन्त कोई धनी आ जाता, मुझे लाख दो लाख रुपये देकर विषयों में फँसा लेता। मैं इन्हीं विषयों में फँसकर अपने आत्मदेव को भूली रहती, इन्द्रिय लोलुप नीच कामियों की वासनापूर्ण करती रहती। मुझे वैराग्य तो धन न मिलने से कामी के न प्राप्त होने से–ही हुआ। इस वैराग्य का मुख्य हेतु तो मेरी निराशा ही है। जिसके हृदय में सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उसे फिर संसार का कोई भी बड़े से बड़ा बन्धन बाँधकर नहीं रख सकता। वह घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव, स्त्री, बच्चे तथा पद प्रतिष्ठा सभी को छोड़कर सभी के सिर पर लात मारकर चला जाता है और इस संसार की सुदृढ़ स्नेह शृङ्खला को काटकर शान्ति लाभ करता है। यह निराशा उत्पन्न करके तो भगवान् ने मेरे साथ बड़ा उपकार किया। भगवान् के इस उपकार को मैं कृतज्ञता पूर्वक शिरोधार्य करके तथा विषय जनित दुराशा का परित्याग करके उन अशरण शरण रमारमण श्री जगदीश्वर की शरण में जाऊँगी। अब ब्रह्मन्! मुझे शरीर निर्वाह की चिन्ता नहीं। मेरी आजीविका कैसे चलेगी इसे मैं भगवान् के ऊपर ही छोड़ दूँगी। मैं कामी पुरुषों की सेवा शरीर निर्वाह के लिये और रतिसुख के लिये करती थी। अब सन्तोष और श्रद्धापूर्वक प्रारब्धवश जो भी कुछ रूखा सूखा मिल जायगा, उसे ही खाकर जीवन निर्वाह करूँगी और अपने परम प्रियतम

प्राणनाथ प्रभु के संग रमण करती हुई आनन्द पूर्वक विहार करूँगी। उन्हीं से बातें करूँगी, उन्हीं की सेवा करूँगी, उन्हें ही रिझाऊँगी, उन्हीं को खिलाऊँगी, उन्हीं का उच्छिष्ट प्रसाद पाऊँगी, उन्हीं की गोद मे सिर रखकर सोऊँगी। अब मुझे चिंता करने का कोई कारण नहीं। समस्त चिन्ताओं की पुटली को अपने प्राणनाथ के पादपद्मो मे अर्पित कर दूँगी।"

मैंने पूछा—"अरे भाई, तुम स्त्री जाति हो, अकेली हो। तुम्हारी रक्षा कौन करेगा। स्त्री के लिये सर्वत्र भय-ही-भय है। विशेषकर तुम लोक निन्दित वेश्या वृत्ति कर चुकी हो, लोग तुम्हें देखकर हँसेंगे, तुम तो जहाँ बैठोगी, वहाँ की पृथ्वी भी नाक भौं सिकोड़ने लगेगी।"

इस पर वह आँसू बहाती हुई बोली—"ब्रह्मन्! संसार में कौन किसकी रक्षा कर सकता है। जो यह कहता है मैं तेरी रक्षा करूँगा, वह झूठा है, कपटी है, स्वार्थी है। विषय वासनाओं के कारण जिसकी विवेक दृष्टि नष्ट हो चुकी है, तथा जिसे काल-रूपी सर्प ने डस लिया है ऐसे इस अगाध संसार कूप में पतित प्राणी की रक्षा परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य प्राणी कर ही क्या सकता है। सबके रक्षक वे श्रीहरि ही हैं। वे ही सबकी रक्षा करते हैं। जीव मिथ्याभिमान के वशीभूत होकर कहता है यह मेरे द्वारा रक्षित है। ब्रह्मन्! पराधीनता तभी तक है जब तक जीव विषय वासनाओं मे फँसा है, इन्द्रिय लोलुप बना है। धनिक को देखता है, तो उससे आशा लगाता है लाओ इसकी हाँ में-हाँ मिलाओ शायद यह हमे कुछ दे जाय। सुन्दरी स्त्री को देखता है, उसके पीछे कुत्ते की भाँति पूँछ हिलाता हुआ घूमता है। किसी प्रतिष्ठित को देखता है, प्रतिष्ठा की आशा से उसकी लल्लो चप्पो करता है। सारांश यह है कि जब तक मन में विषयों के भोगने की इच्छा है तब तक दूसरों की अधीनता है,

जहाँ जीव सम्पूर्ण विषयो से उपरत हुआ, तहाँ उसे अन्य किसी भी रक्षक या संरक्षक की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं ही अपने आप अपना रक्षक बन जाता है। ब्रह्मन्! हम रक्षा की आशा उसी से करेंगे जो स्वय रक्षित हो। जिसे स्वय सर्प ने काट लिया है, जो स्वय सर्प के विष के कारण मुख से भाग बहा रहा है, वह दूसरों की सर्प से क्या रक्षा कर सकेगा। जो स्वय असमर्थ है वह दूसरों को क्या द सकेगा। ये मनुष्य तो स्वय काम के बाणों से विद्ध हैं फिर ये मेरी क्या रक्षा करेंगे। मेरी रक्षा तो सबके रक्षक करेंगे। जिसने अपना रक्षक जगरक्षक को बना लिया उसे कभी प्रमाद होगा ही नहीं, वह तो प्रमाद रहित होकर इस सम्पूर्ण जगत् को काल सर्प से डसा हुआ नाशवान समझता है। जिसके रक्षक अविनाशी हैं, वह नाशवान क्षुद्र ससारी जीवों से रक्षा की आशा क्यों करने लगा। प्रभो! आप आशीर्वाद दें कि मैं उन सर्वान्तर्यामी लक्ष्मीरमण को ही अपना सर्वस्व समझूँ, उन्हें ही अपनी रक्षा का–योग क्षेम का–समस्त भार सौंप दूँ।"

अवधूत दत्तात्रेय मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! उस वेश्या की ऐसी दृढ निश्चय की वैराग्ययुक्त बातें सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। मैंने उसे उसी समय अपने गुरुआनी के रूप में स्वीकार किया। उससे मैंने यही शिक्षा ग्रहण की, कि ससारी लोगों से आशा रखना यही दुःख का मूल कारण है, सब से निराश होकर एकमात्र भगवान की शरण मे जाना यही परम सुख का हेतु है, देखिये, उस पिंगला वेश्या ने जब तक कामियों की आशा की तब तक दुःख पाया, जब उसने सब ओर से आशा हटा ली तब उसे परम सुख मिल गया। वह निश्चिन्त हो गयी। मैंने कहा—'गुरुआनी जी! नारायण नारायण, मैंने तुमसे बहुत बडी शिक्षा ग्रहण की, इसलिये तुम मेरी आज से गुरुआनी हो गयीं।"

उसने मेरे पैरों मे पड़कर कहा—"ब्रह्मन्! आप कैसी बात कह रहे हैं, सब के गुरु तो आप हैं। ज्ञान होने पर गुरु में और शिष्य मे कोई अन्तर नहीं रहता, इसी की शिक्षा देने को आप मुझे गुरु कह रहे हैं। ब्रह्मन्! मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करूँगी और सदा अपनी अन्तरात्मा को ही सद्गुरु के रूप में मानती रहूँगी।" यह कहकर उसने मेरी चरण वन्दना की। रात्रि का समय था, मैंने अब वहाँ अधिक ठहरना उचित न समझा। मे वहाँ से ज्योंही उतरा त्यों ही मैं देखता हूँ, वह अपनी शैया पर दुपट्टा तान सो गयी। निद्रा चिन्ता के कारण नहीं आती है, जब वह निश्चिन्त हो गयी, तो उसे तुरन्त निद्रा आ गयी। स्वस्थ पुरुष को ही सुख की स्वप्न-रहित निद्रा आती है। पिंगला के लिये अब चिन्ता का कोई कारण नहीं रहा। इसीलिये मैंने उसे गुरु मान लिया।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी से लेकर पिंगला वेश्या तक १७ गुरुओं से ग्रहण किये हुए गुणों का वर्णन किया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि कुरर पक्षी को गुरु बनाकर आपने उससे कौन सी शिक्षा ग्रहण की?"

मुनि बोले—"राजन् कुरर पक्षी से जो शिक्षा ग्रहण की उसे भी मैं आपको सुनाता हूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"महर्षियो! अब आप कुरर पक्षी की शिक्षा को श्रवण करें।"

छप्पय

करि करि पश्चात्ताप पिङ्गला अतिशय रोयी।
आशा छूटी सुखी भई अति सुखतैं सोयी॥
आशा में ही दुःख निराशा सुख की जननी।
पावै फल नर अवसि होहि जाकी जस करनी॥
शुभ शिक्षा निरपेक्षता, की वश्या गुरु तैं लई।
कहूँ कुरर पक्षी कथा, जा मर सम्मुख भई॥

कुरर पक्षी से शिक्षा

[१२३६]

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ६ अ० २ श्लोक)।

छप्पय

मांसखण्ड लै कुरर वेगतैं नभमहँ जावै ॥
मेरो है जिह मांस सोचि अति हिये सिहावै ।
इतने में कछु बली विहँग उडिकें इत आये ।
निरखि मांस हिय लोभ बढ्यो छीनन सब धाये ॥
मार परे तोउ न तजै, क्षत विक्षत तनु ह्वै गयो ।
कर्यो त्याग जब विवश ह्वै, तब अति आनन्दित भयो ॥

हम लोग धन को या अन्य भोग वस्तुओं को संग्रह करते हैं तो समझते हैं, हम केवल धन का या वस्तुओं का ही संग्रह कर रहे हैं। किन्तु वास्तविक बात यह है कि वस्तुओं के संग्रह के साथ हम आपत्तियों का भी संग्रह करते हैं। हमारे पास जो वस्तु है और दूसरों के समीप नहीं है तो मन-ही-मन उस वस्तु को देख-

---

* अवधूत मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! अपनी चोंच में मांस ले जाते हुए एक कुरर पक्षी को बहुत से बलवान् अन्य मांस भोजी पक्षियों ने घेर लिया। उनके पास मांस नहीं था, मांस के लिये उन्होंने उसे बहुत मारा। उसे मांस के त्याग करने पर ही शान्ति प्राप्त हुई।"

कर जलते हैं। इसीलिये सग्रही के पडोसी उसके शत्रु बन जाते हैं। यदि निर्बल पुरुष हुए तो मन ही-मन बुरा मानकर रह जाते हैं, यदि सबल हुए तो वे आक्रमण करते हैं, सभी प्रकार के उपायों से छीनने का प्रयत्न करते हैं। सग्रह करके जो निश्चिन्त होना चाहता हे, उसका प्रयत्न उसी प्रकार है जिस प्रकार सर्पों को घर मे स्वच्छन्द रखकर कोई निश्चिन्त होना चाहे। धन सग्रह करके निश्चिन्त होना तो पृथक् रहा, सग्रहियों से ससर्ग करने वाले भी निश्चिन्त नहीं रहते, उन्हे भी सबसे शङ्का लगी रहती हे। रागपूर्वक ससर्ग करने वाले तो दुखी रहते ही हैं, बिना राग के भी ससर्ग हो जाय तो दुखदायी होता हे।

श्री गोवर्द्धन की तलहटी मे एक बडे ही विरक्त सन्त रहते थे। उनकी विरक्तता की ख्याति सुनकर कोई रानी उनके दर्शनों को आई। महात्मा जी तो किसी से कुछ लेते ही नहीं थे, रानी प्रणाम करके चली गई। रात में चोर लोग आये। महात्मा जी को बहुत मारा और उनसे कहा—"रानी क्या दे गयी हे।" उन्होंने बहुत कहा—"कुछ भी नहीं दे गई है।" उन्होंने कहा—"कुछ भी नहीं दे गयी हे तो हमे दिलाओ, वह तुम्हारी भगतिन हे।" जेसे तेसे महात्माजी को उन्होंने छोड़ा। तभी से वे गोवर्धन छोडकर वृन्दावन मे रहने लगे।

बात यह हे कि जेसे जल नीचे की ओर स्वाभाविक बहने लगता हे, उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पडता, उसी प्रकार विषयों के प्रति झुकाव मनुष्य मात्र का स्वाभाविक हे। जिस प्रकार ऊँचे स्थान मे जल चढाने के लिय प्रयत्न करना पडता है, उसी प्रकार त्याग वेराग के लिये प्रयत्न करना पडता हे। शान्ति सभी चाहते हैं। शान्ति त्याग वेराग्य के बिना होती नहीं। अतः त्याग वेराग्य की आवश्यकता जान में अनजान मे सभी अनुभव करते हैं। इसीलिये जिनको त्यागी वेरागी देखते हैं, उनकी ओर

स्मी का आकर्षण स्वाभाविक होता है। बहुत से लोग त्याग की दीक्षा लेकर उनके संसर्ग में रहने लगते हैं। जब उस त्यागी विरागी साधक की स्वार्थ या परमार्थ किसी भावना से संग्रह करने की इच्छा हो जाती है, तो उसके साथी ही उसके शत्रु बन जाते हैं और मन-ही-मन उससे द्वेष करने लगते हैं। विषयों का संग्रह काजर का ढेर है उससे जो संसर्ग रखेगा उसका शरीर काला न भी हो तो वस्त्र तो काले अवश्य होंगे। अवतारों ने भी इनका संसर्ग करके नाना क्लेश उठाये हैं। उन्हें तो क्लेश हो ही क्या सकता है, जनता के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया है कि परिग्रह करना क्लेश का मुख्य कारण है।

नैमिषारण्य निवासी मुनियों से सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! कुरर पक्षी को गुरु बनाकर दत्तात्रेयजी ने उससे जो शिक्षा ग्रहण की उसका वर्णन उन्होंने स्वयं राजा यदु से किया है। उसे समझाते हुए अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं जंगल में घूम रहा था, कि उसी समय एक कुरर पक्षी को मांस का टुकड़ा ले जाते हुए मैंने देखा। मैं कुछ देर तक उसकी ओर देखता रहा। उसी समय मैंने देखा, बहुत से पक्षियों ने उसे घेर लिया। उन सबके पास मांस नहीं था, किन्तु वे उसे पाने को समुत्सुक थे। जीव का स्वभाव है जिसे अपने मन से ग्रहण कर लेता है, फिर उसे छोड़ने में उसे अत्यन्त कष्ट होता है। एक आदमी आया, सहस्र रुपयों की थैली हमारे पास रख गया। हमें बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्हें मन से ग्रहण कर लिया। एक ने आकर कहा—"महाराज! हमें दे दो।" तो हम कदापि देने को उद्यत नहीं होते। और बचाकर दूसरा मनुष्य उसे उठा ले गया तो हमें बड़ा क्लेश होता है। अब सोचिये, उन रुपयों के आने के पूर्व भी वे रुपये किसी पर थे और अब भी किसी के पास होंगे ही। हमारे दुःख का कारण है ममता। जिसकी जिस वस्तु

में ममता हो जाती है, उसे वह सहज में नहीं त्याग सकता, शक्ति भर उसकी रक्षा का प्रयत्न करेगा। धनोपार्जन में उतना कष्ट नहीं होता जितना उसके रक्षण में होता है। राजन्! जब मांस का टुकड़ा लिये हुए उस कुरर पक्षी को अन्यान्य पक्षियों ने घेर लिया, तब वह बहुत छटपटाया। वे पक्षी बलवान् थे,

उन्होंने उसे मारना आरम्भ किया। जब उसने देखा इस मांस के टुकड़े के पीछे मेरे प्राण जाना चाहते हैं, तो मांस से अधिक प्रिय प्राणों को समझकर उसने चोंच में से मांस के टुकड़े को फेंक दिया। अब पक्षियों ने उसे तो छोड़ दिया, उस मांस के टुकड़े के लिये लड़ने लगे।

मांस के टुकड़े को छोड़ते ही चिन्ता, शंका, भय तथा सभी प्रकार की विपत्तियाँ उसके शिर से दूर हो गयीं। तुरन्त मैंने उसे

अपना गुरु बना लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि मनुष्यों की जो-जो वस्तुएँ अधिक प्यारी हों, जिन जिन में अधिकाधिक ममत्व हो, उनका सङ्ग्रह करना ही दुःख का कारण है। पुत्र संसार में अत्यन्त प्रिय माना गया है। वह जब गर्भ में आता है और जब तक रहता है दुःख ही-दुःख देता है। गर्भ में आते ही माता का मन मिचलाने लगता है, आहार में रुचि नहीं रहती शरीर कृश हो जाता है, भाति-भाति की चलने फिरने उठने बैठने की असुविधायें होती हैं। जन्म के समय माता को जो क्लेश होता है, उसका वर्णन तो असम्भव है, किसी किसी के तो प्राण ही चले जाते हैं। उत्पन्न होने पर उसके लालन पालन में दुःख, यदि अयोग्य हुआ, तो रात्रि दिन हृदय जलता रहता है, यदि योग्य हुआ तो अधिकाधिक ममता बढ़ जाती है, उसके लिये सुख साधन जुटाने में व्यग्र बने रहते हैं। जब तक रहता है उसी की चिन्ता बनी रहती है। यदि अकाल में उसकी मृत्यु हो गयी, तब तो पूछना ही क्या है। पुत्रशोक का अनुभव माता पिता के अतिरिक्त कोई कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार धन भी अत्यंत प्रिय है, इसके उपार्जन में कितना कष्ट, व्यय करने में कितना कष्ट। धनवान् को सभी से सदा शंका बनी रहती है। राजा से, चोर से, शत्रु से, सम्बन्धियों से, मित्रों से, पशु पक्षियों से यहाँ तक कि अपने आपसे भी सदा भय बना रहता है। सोचता है, मैं किसी सभा समिति में गया, वहाँ लोगों के प्रभाव में आकर कहीं दान दे आया अथवा किसी को वचन दे आया तो बड़ी गड़बड़ी होगी। इसलिये सभा समिति से सदा बचता रहता है, दान माँगने वालों को देखते ही भाग जाता है। मन में सदा खुटका बना रहता है। यदि धन नष्ट हो गया, तब तो प्राणान्तक कष्ट हो जाता है, बहुत से पागल हो जाते हैं। बहुतों की हृदयगति रुक जाती है और वे मर जाते हैं। इसलिये वस्तुओं में

प्रियता स्थापित करके उन्हें संग्रह करना ही दुःख का मूल कारण है। जो ऐसा जानकर अकिञ्चन भाव को धारण करता है, अपना कुछ भी न समझकर ममताहीन बना रहता है, वह सदा सुखी रहता है। धन न रहने से ही सुख मिल जाता हो सो बात नहीं, उसके प्रति ममता भी न होनी चाहिये। निर्धन इसीलिये दुखी रहते हैं कि हमें धन नहीं मिलता। सुख का साधन तो वे धन को समझते हैं, किन्तु उसे अर्जन करने मे असमर्थ हैं, इसीलिये वे भी दुखी रहते हैं। अर्जन करने मे समर्थ होते हुए भी उसका त्याग कर दे उसे सञ्चित न करे तो वह सुखी होता है कुरर पक्षी मास ले आया था, किन्तु जब उसने अपने ऊपर उस मास के पीछे आपत्ति देखी, तो उसे छोडकर सुखी हुआ। इसी प्रकार सञ्चित वस्तुओं को त्याग करके उनका सन्यास करके जो उनसे विरक्त हो जाता है वही प्रमुदित होता है।

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! कुरर पक्षी से ली हुई शिक्षा को तो मैंने श्रवण किया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने बालक को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ग्रहण की।"

यह सुनकर अवधूत मुनि बोले—"राजन्! बालक के जिन गुणों पर रीझकर मैंने उसे गुरु बनाया, उसे मैं आप से कहूँगा।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब मैं बालक से ग्रहण की हुई शिक्षाओं का वर्णन करता हूँ, आप सब समाहित चित्त से शान्ति के साथ श्रवण करें।"

छप्पय—*शिक्षा मैंने लई करै नहिँ यति संचय धन।*
जो जो संचय करै रहै ताहीमहँ निज मन॥
चिन्ता शङ्का लोभ होहि भय धनतैं नित नित।
धन लाभी बहु रहैं धनी के पीछे उत इत॥
कुरर सरिस संग्रह करैं मार खाइगो सो अवसि।
निसकिञ्चन अति सुख लहै, ब्रह्मामृत सागर प्रवसि॥